चिता की लपटों से

(सामाजिक उपन्यास)

—○:○:○

लेखक—
श्री शैलेश एम. ए.

मिलने का पता
नवयुग ग्रंथागार
छितवापुर रोड, लखनऊ.

प्रकाशक
हिंदी साहित्य भवन
लालकुआँ, लखनऊ

प्रथमवार
कार्तिक पूर्णिमा सम्वत् २०११
मूल्य साढ़े चार रुपया

मुद्रक
नवभारत प्रेस
नादान महल रोड, लखनऊ

प्राक्कथन

श्री शैलेश जी होनहार नवयुवक हैं। यह उपन्यास उनका प्रथम प्रयास है। लेखक ने समाज के सभी अंगों पर प्रकाश डाला है। भाषा शैली में प्रवाह है और कथा वस्तु के साथ रोचक भी है। फिर भी आगे वह जो कुछ लिखेंगे, उसके उत्कृष्ट रूप की आभा इस उपन्यास में है। उनमें उपन्यास के कई वाक्य मुझे बहुत ही भाए, जैसे एक था उपकथन में, "प्रेम वासना का कला-पूर्ण अभिनय है, यह कभी कभी अभिनय का रूप धारण करता है, और कभी कभी आँधी या प्रवाह का।" ऐसे अनेक वाक्य चिता की लपटों से उपन्यास में हैं। प्रेम वासना का कला-पूर्ण रूप चिता की लपटों से, मिलेगा।

मेरी कामना है कि शैलेश जी खब फूलें फलें।

वृन्दावन लाल वर्मा
झाँसी

प्रस्तावना

श्री शैलेश जी हस्त लिखित 'चिता की लपटों से' देखने का अवसर मिला। वस्तुत: कोई भी उपन्यास मानव जीवन के कुछेक चित्रों का संग्रह मात्र ही तो होता है। मानव अनुभूति उसमें सजीव हो उठती है। पाठक उसी में रस पाते हैं। इसी प्रकार कुछेक सजीव मानव जीवन के चित्र 'चिता की लपटों से' में मिलते हैं। उदीयमान लेखक ने इन्हीं जीवन के चित्रों को एक सूत्र में गूँथ कर उनमें यथार्थ रूपी रंग भरने का सफल प्रयत्न किया है।

'चिता की लपटों से' सामाजिक उपन्यास है। जिसमें सामाजिक प्रश्नों का समावेश भी लेखक ने किया है। कथा वस्तु रोचक है। मुझे पूर्ण आशा है कि इनकी लेखनी हिन्दी जगत को बहुत कुछ दे सकेगी।

प्रिन्सिपल
महिला विद्यालय
अमीनाबाद, लखनऊ

डा० कंचनलता सब्बरवाल
एम ए० पी० एच० डी०

दो शब्द

श्री शैलेश एम० ए० का यह "चिता की लपटों से" उपन्यास रोचक और सुगठित है। सभी पात्र सजीव हैं। चरित्र-चित्रण भी चटकीला है। पुरानी परम्परा को मानने वाले भले ही कुछ नाक-भौं सिकोड़ें, पर नवीन विचार धारा के पाठक इसका स्वागत ही करेंगे। इससे अधिक इसके विषय में मुझे कुछ नहीं कहना है। जिस प्रेम-विवाह, अन्तर्जातीय विवाह आदि के समर्थन की पृष्ठभूमि में यह उपन्यास लिखा गया है, उनकी बाधा तो सरकार ने हिन्दू-विवाह बिल द्वारा दूर ही कर दी है। तलाक का भी अधिकार स्थापित हो चुका है। ऐसी दशा में ऐसे उपन्यासों की यही उपयोगिता रह गई है कि वे अमनोनीत विवाह के बन्धन में जकड़े हुए पति-पत्नी अथवा भिन्न जाति के युवक-युवती सम्बन्ध विच्छेद या विवाह करने के लिए उत्साहित हों और समाज भी उनका समर्थन करने लगे। लेखक को इसके लिये प्रसन्न होना चाहिए कि झील का प्रवाह उनके अनुकूल ही जा रहा है।

रानीकटरा
लखनऊ

रूपनारायण पाण्डेय

प्रकाशकीय

श्री शैलेश जी हिन्दी साहित्य के लिए नवीन नहीं हैं। इनकी कहानी एवं लेख कई पत्र पत्रिकाओं आदि में बराबर निकलते हैं। आपने संजीवनी मासिक पत्र का बहुत दिनों तक सम्पादन भी किया था जिसकी भूरि भूरि प्रशन्सा कई पत्रों ने भी की थी। आपने हिन्दी साहित्य की जो भी सेवाएँ की हैं, वह किसी साहित्यकार से छिपा नहीं है। आप कलाकार हैं।

प्रस्तुत उपन्यास 'चिता की लपटों' से 'संध्या' आलिगन करती है। इसके उदीयमान लेखक 'शैलेश' से हिन्दी संसार परिचित है। पुस्तक में आपने समाज के सभी अंगों का बड़े ही सुन्दर ढंग से चरित्र चित्रण किया है। कहीं कहीं पर राजनैतिक छाप भी उपन्यास में आप को मिलेगी जो वास्तविक सचाई है। प्रेम वासना का अंग नहीं है। प्रेम ईश्वरी अस्तित्व का ज्ञान है। स्वार्थपरता से लोभी मानव, समाज की दृष्टि में किस प्रकार गिर जाता है।

आज के युग में सौंदर्य उपासना कामुकता का विषय समझा जाता है। किन्तु यह असत्य है। इसी प्रकार के विषय इस उपन्यास में आपको मिलेंगे।

उपन्यासकार श्री वृन्दावन लाल वर्मा ने अपने दो शब्द में लिखा है कि शैलेश जी का यह उपन्यास कला-पूर्ण है और इसकी भाषा रोचक है।

—प्रकाशक

वक्तव्य

जब जीवन के स्वर्णिम नक्षत्र निशा के निविड़ अंधकार में अस्त होने लगते हैं, कल्पना की प्राची साहित्य के नीलाकाश में छा जाती है। जीवन के पाए और खोए मोती सजीव होकर कल्पना में तैर जाते हैं। डाक्टर देवराज का कहना है कि उपन्यास जीवन के जितना ही निकट लिखा जाय उतना ही सफल है। उनका यह यथार्थवाद कहाँ तक न्याय-संगत है, इसका निर्णय करना हमारे विषय-परिधि के बाहर है, परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि किसी उपन्यास जैसे ललित साहित्य को इस घेरे में बाँध रखना असम्भव है। वास्तविकता तो यह है कि भावों की उत्कृष्टता के बिना साहित्य की भव्यता हो ही नहीं सकती। इसके लिये हमें दीपक और संध्या जैसे चरित्र और नाम रखना पड़े। आशा है, पाठक हमारी भूलों को हमारा प्रथम प्रयास समझकर क्षमा ही न करेंगे, वरन् समय-समय पर आशा और उत्साह दिलाते रहेंगे।

—लेखक

[१]

सन्ध्या का समय था। प्रकृति के अंक में ज्योत्स्ना खेल-खेलकर विलीन हो जाती, फिर कभी आकर सरिता की लोल लहरियों के साथ किलोल करने लगती। कभी वृक्षों की शिखाओं पर नाचने लगती, परंतु शशि रो रही थी, उसका मुख-मयंक लटों की काली घटाओं से ढक गया था। पवन का एक शीतल झकोरा आकर अलकों को बिखेर देने का प्रयत्न करता, जैसे कि शशि के प्रति उसे समवेदना हो। शशि कभी-कभी सिसक उठती, और अश्रु-बिंदु कपोलों पर ढुलककर उसके वेदना-पूर्ण जीवन की कहानी लिख देते।

दूर अस्ताचल में डूबते हुए अरुण की रश्मियाँ क्षितिज से टकराने का प्रयत्न कर रही थीं। इन्दु बादलों के अंचल की ओट से दिनेश के इस अविरल प्रयत्न को देख रहा था। सन्ध्या के अरुण अधर मुस्करा उठते। दूर नाव में दीप-मालिकाएं जल रही थीं। वातावरण को देख शशि का मुख फीका हो चला। पूर्व की ओर से शम्पा के घोर निनाद से वातावरण हिल-सा उठता, दूर

तक प्रकाश जगमगा उठता, पक्षी चौंककर डालों पर से उड़ने लगते, और ऐसा जान पड़ता, जैसे बादलों के पीछे कोई इस चित्र को खींचने का प्रयत्न कर रहा है।

इन्दु के सिर से अंचल खिसक गया, शशि के केश उड़े, वृक्ष झूमने लगे, सरिता के हृदय का उन्माद तरंगों के रूप में दुकूल से टकराने लगा, दीप बुझ गए, सन्ध्या चली गई। माँझी गा रहा था। मुरली सिसकने लगी। कुंजरायन की सघन छाया में शशि के कर्ण सतर्क हो उठे—

> घोर आँधी! निविड़ तम में बुझ गया अब दीप मेरा।
>
> ले चुका पंछी बसेरा॥
>
> दीप की लौ बुझ चुकी है, हो गई है सान्ध्य बेला।
>
> श्रमित जीवन के पथिक ने ले लिया है अब बसेरा॥

गीत वातावरण में गुंजनकर शशि के कानों से टकरा गया। मुरली की काँपती हुई ध्वनि से वह सिहर-सी उठी, जैसे उसे किसी ने छू लिया हो। अचेतन शरीर में चैतन्यता एक बार पुनः लौट आई, उसने चारों ओर देखा। शांत वातावरण का भेदन करती हुई झिल्ली की झंकार, पवन की सरसराहट, वृक्षों के पल्लवों की खड़खड़ाहट, दादुरों की संगीत-पूर्ण चिल्लाहट! जैसे किसी के अवसान पर प्रकृति विलाप कर रही हो। शशि व्याकुल हो उठी, विचारों के झंझावात ने उसका मस्तिष्क बिखेर दिया। वह प्रकृति के इस कला-पूर्ण विलाप और रुदन को समझ न

सकी। वह भूल गई। अपने को भी भूल गई। संसार को भी विस्मृत कर उठी। उसके हृदय-पट पर चिता धू-धू कर जल उठी।

सरिता के कूल पर लोग देख रहे थे—दीपक जल रहा था। उसकी लौ पवन के झकोरों में बह जाती। मानो वह शून्य आकाश में कुछ खोजना चाहती थी। इतने में आ गई सन्ध्या—"कौन जल रहा है?" उसने उत्सुकता प्रकट की थी।

"दीपक" किसी ने कहा था।

वह चिल्ला उठी। न-जाने क्या-क्याबक गई थी। अचानक पिस्तौल की ठायँ-ठायँ उसके कर्ण-कुहरों में गूँज गई। दूसरे ही क्षण गोधूलि की मलिन वेला में सन्ध्या और दीपक का हृदय-विदारक संयोग। चिता की लौ उसकी ओर बढ़कर उसे आमंत्रित कर रही थी। और सन्ध्या! वह चिता के लौ की ओर, भभकती हुई ज्वाला की ओर, खिसक रही थी। उसकी कराह पवन की तरंगों के साथ प्रज्वलित ज्वाला में समा गई। ऊषा के नेत्र आँसू में तैर रहे थे। सन्ध्या के अश्रु नेत्रों से कपोलों पर ढुलक-कर सिकता में सूख जाते, ज्वाला क्षीण होने लगी। "दीपक, ठहरो, मैं आती हूँ।" सन्ध्या चीत्कार कर रही थी। चिता से चटाचट का शब्द आ रहा था। जैसे किसी का हृदय-दर्पण टूट रहा हो।

सन्ध्या की व्याकुलता विह्वलता में परिणत हो गई। वह बढ़ चली उसी ज्वाला की ओर। चिता की राख उड़कर सन्ध्या की

माँग में भर जाती, जैसे पवन-पुरोहित दीपक से उसका परिणय करा रहा हो।

सन्ध्या स्तनयित्नु के पीछे छिप चुकी थी। हलकी-हलकी फुहार पड़ने लगी थी। अचानक क्षणप्रभा रसित हो उठी। विचारों का स्वप्न टूट गया। क्या यह एक नाटक था ?

दीपक ! सन्ध्या !! ऊषा !!! क्या सबका अभिनय समाप्त हो गया ? विश्व के रंग-मंच पर अभी उसका अभिनय क्या शेष है ? उसने भी दीपक की लौ छूने का प्रयत्न किया था, पर वह छू न सकी। दीपक जल रहा था—सन्ध्या के अंक में। फिर शशि और दीपक का मेल भी कैसे हो सकता है ? एक शीतल है, दूसरे में पतिंगे को झुलसानेवाली ज्वाला। सन्ध्या अरुण है, दीपक की ज्योति से उसका समन्वय हो सकता है, परंतु शशि का प्रकाश तो श्वेत है। उसने एक दीर्घ निःश्वास खींचा। विचारों का बाँध टूट गया। निर्जन और शांत वातावरण में माँझी की मुरली पुनः लहरा उठी। शशि ने देखा—दूर एक दीपक टिमटिमा रहा था। उसके हृदय में भी दीपक जल रहा था, और उसी के प्रकाश में वह देखने लगी—एक चल चित्र।

---

[२]

प्रातःकाल ऊषा नभ-मंडल में सिन्दूर-सी बिखर गई थी। शिशु सूर्य मा के अंचल में मचल-मचलकर अँगड़ाई लेने लगा। निशा ने मुस्कराकर अपना काला अंचल वात्सल्यता से हटा लिया। प्रकृति नवोत्पन्न हरियाली में हरीतिमा की लहरें मार रही थी। विक्टोरिया-पार्क उस समय तक शांति से ओत-प्रोत था। कभी-कभी एकआध कार किनारे की सड़कों से सरसरा जाती, और यह निस्तब्धता एकआध बार कहीं से किसी की कराह से भंग हो जाती।

उस बेचारी को तीन दिन तक भोजन ही न मिला। कल जो राजकुमारी बनकर महल में किलकारियाँ मारा करती थी, उसी की आज यह दशा! माता तथा पिता उसके सामने ही क्रूर पठानों और मुसलमानों द्वारा मार डाले गये। लाखों की सम्पत्ति, बँगले तथा मोटरें, सब देखते-देखते पराई हो गईं। राजकुमारी कंगालिन बनकर, अपना धर्म बचा निकल भागी, उसकी मा की दुर्दशा उसके सामने की जा रही थी। वह छिपकर

सब देख रही थी। इस बेचारी को भी सबों ने पकड़कर बाँध दिया, तथा बोरे में कसकर उसे खुली छत पर रख दिया। धर्म बचाने के हेतु उसने अपने जीवन को मौत के हाथों में सौंपकर, छत पर से लुढ़ककर सामने की सड़क पर मर जाना अच्छा समझा।

पर ऐसी होनहार बालिका का मरना ईश्वर को मंजूर न था। वह लुढ़ककर एक चलते हुए ट्रक में गिर पड़ी और इस प्रकार बच गई। वह अब अमृतसर में एक क्षण टिकना नहीं चाहती थी। चल पड़ी बेटिकट वहाँ से। लखनऊ में आये उसको आज चौथा दिवस था।

अनाथालय के अधिपति सेठ सागरमल की अकेली पुत्री सन्ध्या अपने सहेलियों के संग पिकनिक में गई थी। वहाँ से लौटते समय विक्टोरिया-पार्क में कुछ देर टहलने का प्रस्ताव उठा। उस प्रस्ताव को विभावरी को छोड़कर और सब मान गईं।

मालती और मीरा पार्क की क्यारियों के समीप टहलने लगीं। रेखा और किरण सामनेवाली बेंच पर बैठकर इधर-उधर की बातें करने लगीं। विभावरी ने पुष्पों को तोड़-तोड़कर आँचल में बाँधना शुरू किया। प्रभा और कमला रामकली का अलाप करने लगीं। पर सन्ध्या... ..।

सन्ध्या की आँखों से उस बेबस लड़की की हालत छिपी न रह सकी।

कितनी वेदना थी उस बेचारी की वाणी में! कितनी करुणा थी उसकी कहानी !! सन्ध्या ने उसको आश्रय देने का वचन देकर कार में बैठाल लिया। घर में आते ही उसने अनाथालय के चौकीदार से चाभियों का गुच्छा ले उसके लिये एक सुन्दर-से कमरे की व्यवस्था कर दी।

"बहन, तुम्हारा नाम ?" सन्ध्या ने ऊषा से पूछा।

"ऊषा।" उसने उत्तर दिया।

सन्ध्या नाम को सुन विस्मय में पड़ गई। ऊषा! यह तो उसकी एक सहेली का नाम है, जो शायद अमृतसर में उसे मिली थी। उसे आज से पाँच-छः वर्ष पूर्व की घटना याद आ गई। उसका पिताजी के साथ अमृतसर जाना, सेठ बनवारीलाल-जी के यहाँ ठहरना तथा उनकी पुत्री मधुरभाषिणी ऊषा के साथ मैत्री होना तथा वहाँ से लौटते समय दोनों का गले मिल-कर रोने की सारी बातें उसे याद हो आईं। यह ऊषा क्या वही ऊषा है? उसके हृदय में बार-बार प्रश्न हुआ। आत्मा ने आत्मा को पहचान लिया था। शायद इसी कारण वह उस तक पहुँच गई थी। परन्तु अभी स्मृति ने गवाही न दी। हो सकता है कि यह ऊषा वही ऊषा हो। पर कैसे यह सम्भव है? कहाँ तो महलों की राजकुमारी, कहाँ सड़क की भिखारिन! परन्तु उसने और भी अनेकों ऐसी लड़कियों को देखा, परन्तु किसी के प्रति ऐसा सखीभाव उत्पन्न न हुआ था।

सन्ध्या ने ध्यानपूर्वक उसकी आँखों में झाँककर अतीत के कुछ चिह्न देखना चाहा। वह ऊषा को निर्निमेष नेत्रों से देखती रही। देखते-देखते ही उसे यकायक पसीना हो गया, और घबराहट से उसका गला रुँध गया। वह फूट पड़ी—"क्या तुम वही ऊषा हो ?"

"हाँ बहन ! मेरा नाम ऊषा है।" उसने सन्ध्या को विश्वास दिलाते हुए कहा। सन्ध्या अपने को सँभालते हुए बोल पड़ी—"सो तो ठीक है, परन्तु तुम्हारा मेरे साथ कभी रहना हुआ है क्या ? मैंने तुमको कहीं देखा है जरूर।"

ऊषा भी अपनी भावना प्रकट करने की उत्सुकता से बोल पड़ी—"यक़ीन से नहीं कह सकती, परन्तु आपकी बोली मुझे पहचानी हुई लग रही है। आपका नाम क्या है भला ?"

"सन्ध्या मेरा नाम है।" उत्सुकता से उसने जवाब दिया। "सन्ध्या ! तो क्या आप ही सन्ध्याकुमारी हैं ? अनाथालय के अधिपति सेठ सागर की पुत्री। आप तो मेरे साथ अमृतसर में रह भी चुकी हैं।" यह सब ऊषा लम्बी-सी निःश्वास छोड़ते समय विस्मय तथा हर्ष-विषाद की भावनाओं में बह चली। सन्ध्या ने इसका उत्तर अपने आँसुओं से लिख दिया। जल की बूँदे नयनों से ढगककर धूल में नाचने लगीं। दोनो ने दो क्षण रुककर फिर एक दूसरे को देखा और फिर अहककर रो पड़ीं। हर्ष-विषाद का उल्लास छाया था।

सन्ध्या कुछ देर पीछे उठी। उसने ऊषा का हैंडबेग अपने स्टडीरूम में रख दिया तथा बगल के कमरे में उसके रहने का प्रबंध किया।

"विभावरी! इधर चल।" आवाज से सन्ध्या का कमरा गूँज गया।

"जी, आई!" उत्तर मिला।

तब तक विभावरी इठलाती हुई कमरे में प्रवेश कर बोली—"आपने मुझे बुलाया?" कहकर विभावरी ऊषा की ओर कुछ घृणा से देखने लगी। उसके हृदय में वही भावना उत्पन्न हुई, जो कुत्ते के हृदय में भिखारी को देखने पर होती है।

सन्ध्या इस बात को ताड़ गई। और बोली—"विभावरी, आज मैं ऊषा के संग छत पर सोऊँगी।"

विभावरी भौंहें सिकोड़ते हुए बोली—"यदि बाबूजी देख लेंगे, तो?"

"तू इसकी चिन्ता न कर। मैं निपट लूँगी। और फिर तुझे कौन चिंता है?" सन्ध्या ने कुछ व्यंग्य से कहा।

---

(३)

संसार एकदम निराला है! सेठ सागर भी निराले थे, एकदम निराले। आडम्बर और पाखण्ड की साक्षात् मूर्ति। गले में माला-कंठी, आँखों में मोटे फ्रेम का चश्मा और भाल पर त्रिपुण्डाकार तिलक। उनसे लोग बहुधा ज्ञान-चर्चा किया करते थे। देखने में एकदम महात्मा।

इसके विपरीत हृदय में वह कामी, क्रोधी, विषयी और नीच थे। पुत्री सत्रह वर्ष की हो चुकी थी, परन्तु उनकी विषय-कुवृत्ति पहले-जैसी ही रह गई। यौवन वसंत बनकर छाया था। सागर ने अपनी चंचल लहरों से कितनी ही कलियों को असमय हिलोर-कर तोड़ दिया।

उन्हें अपनी कुवृत्तियाँ भूली न थीं। उसी की हलकी-सी एक स्मृति आ-आकर उन्हें झकझोर दिया करती थी।

इसके विपरीत सन्ध्या उनकी पुत्री हृदय से अत्यंत दयावती, सुशीला तथा सात्त्विक थी, परन्तु बाहर मानमर्यादा रखने के हेतु रेशमी अलंकारों से विभूषित हो चन्द्रहार धारणकर चपला-

भी कार पर निकल जाया करती थी। बच्चे उसको बहुत प्रिय थे। बिल्ली के बच्चे, कुत्ते के बच्चे, सभी उसको प्यारे थे। यहाँ तक कि वह शूकर-शावकों से भी घृणा न करती थी। अकेली उसको रहना भाता न था। सुनसान से कुछ घबराया करती थी। ये सारे गुण उसकी मा से उसको प्राप्त हुए थे, जो बच्चे की जननी बनकर रह गई, माता न बन सकी।

हाँ, तो उस दिन सेठ सागरमल के ड्राइवर कृष्णचन्द्र ने उन्हें गुप्तरूप से उस बेबस ग़रीब लड़की के आने की ख़बर दी। सुनते ही उछल पड़े सेठ सागर। उल्लास की सीमा पार कर गये। हृदय में गुदगुदी-सी मच गई। मन में उस आई हुई लड़की के प्रेम के महल बनाने लगे। उसके पश्चात् अपनी माला पर हाथ फेरकर ठिठक गये और प्रभु से क्षमा-याचना करने लगे। कुछ क्षण स्तब्ध रहे। उसके पश्चात् उठ खड़े हुए और अनायास ही उनके पग उठने लगे। शायद कृपा के कमरे की ओर। दो-चार क़दम आगे बढ़े, फिर ठिठक गये। आत्मा ने विद्रोह और धर्म ने चीत्कार किया। सेठ सागर के पैर काँपने लगे। उन्हें रोमांच हो गया। विषय के झकोरे में वृक्ष से टूटे हुए पल्लव की नाईं सागर उड़ चले। वह झकोरा भी कितना अपवित्र था। विषय की धूल उड़ रही थी। काम-क्रोध की कंकड़ियाँ उछल रही थीं।

किवाड़ों के पास जाकर उनके शरीर में कम्पन दुगुना हो गया। कमरे में प्रवेश करने के पहले उन्होंने उसकी बाहरवाली

खिड़की से झाँकने की योजना बनाई, परंतु इतने में किसी आगंतुक के पैर की आहट मिली, जिससे सेठजी घबराकर अपने कमरे में खिसक गये। झट डायरी खोलकर, उसमें मुख छिपा आनेवाले की आहट लेने लगे। मन में कहा, ये कौन बेवक़्त आकर मरा।

कृष्णचन्द्र ने आते ही 'बाबूजी', 'बाबूजी' का घोर गर्जन किया। आवाज़ को पहचानकर रोब गाँठने के प्रयत्न में बनावटी गंभीरता से कड़क उठे—"कौन है बे? इस वक़्त क्यों आया है यहाँ?" कृष्णचन्द्र उनके मुख की आभा को देखकर मुस्कराया और बोला—"घबराइए मत, पूरा-पूरा हाल-चाल लाया हूँ। लड़की आपके क़दमों में हाज़िर होगी।"

सेठजी प्रसन्नता से बोल उठे—"सो तो ठीक है, पर तू आ कहाँ से रहा है?" उत्तर में एक रण-विजेता की भाँति प्रसन्नता की आभा से चन्द्र बोल उठा—"बताऊँगा, सब कुछ बताऊँगा। ज़रा श्वेताम्बरी के अधर-सुधा-रस से अपने शुष्क अधरों को सरसता प्रदान करने के बाद।"

सेठजी की उत्सुकता प्रतिक्षण बढ़ती ही गई। सिगरेट का पैकेट जेब में से निकालकर उसे उसकी ओर फेंकते हुए बोले—"और कुछ भी चाहिए, मेरा मतलब है रुपया-पैसा?"

"जी नहीं, मुझे कुछ नहीं चाहिए। आप इतमीनान रखिए।"

"देखो किशन हम-तुम स्वामी-सेवक रहते हुए भी कितने घुलमिल चुके हैं।"

"जी हाँ, जैसे दूध और पानी।" किशन ने चापलूसी की।

"बिलकुल एक रस।"

"परंतु मैं खुला हुआ दूध और आप छिपे हुए जल। मैं आकाश में खुला हुआ बादल हूँ, पर आप छिपे हुए पानी और आपका काम बरसना, पर मेरा केवल गर्जना।"

'हाँ, और यदि मैं जीवन हूँ, तो तुम उसके कैलेन्डर; मैं दिन हूँ, तो तुम उसकी घड़ी। हमारा-तुम्हारा संयोग अभेद और स्थिर है।

"हाँ, यदि आप बादल हैं, तो मैं उसकी गरजन।"

"और बिजली ?"

"वह भी है!"

"कहाँ ?" फिर कुछ सोचकर—"अच्छा समझा, हाँ-हाँ, अब तो बिजली आशा बनकर चमकनेवाली है।

"कैसे और कब ?" सागर ने प्रश्न किया। शायद बहुत ही उत्सुकता के साथ।

"कल रात को बेहोश करके।"

"सागर में थोड़ी कायरता की मुस्कान खिंची और फिर उसने प्रसंग टालते हुए कहा—"कौन है, वह कहाँ से आई है वह ?'

"अरे वही'''क्या नाम है उसका...' मस्तक पर सिकुड़न लाते हुए तथा उँगलियों को शून्य में हिला-डुलाकर कुछ खोजने के प्रयत्न में किशन बोल पड़ा—"अरे ! सेठ बनवारीलाल, वही अमृतसरवाले। शायद उन्हीं की लड़की है। अच्छा है, अपने अनाथालय में आकर अपनी बनी।' सब कुछ एक प्रयत्न में वह कह गया।

सेठ सागर सुनते ही कम्पायमान हो लड़खड़ाने लगे। चोटी से एड़ी तक पसीना चल पड़ा। कुछ द्रवित हुए। दुःख भी बहुत हुआ। पर शायद उन्होंने जितना दुःख उस समय प्रकट किया, उतना उन्हें हुआ नहीं। आत्मा उनकी रो पड़ी और अपना सात्त्विक मार्ग दिखलाने लगी। कर्तव्य, धर्म, दया सबने एक होकर ऊषा की ओर से वकालत की, परंतु सेठ सागर के हृदयरूपी हाईकोर्ट में जीत उनकी असुरी प्रवृत्ति की हुई। और कुछ मन में ही सोचकर वह मुस्करा पड़े।

किशन को बाहर जाने का इशारा करते हुए सेठ सागरमल मनःकल्पित महल में विचरने लगे। कल रात को वह मेरे अंक में आ जायगी, यह विचार बारम्बार उनके हृदय में आंधी बनकर आता और माला-कंठी को झकझोरकर चला जाता था। हृदय में उनके गुदगुदी-सी मच रही थी। पर यह गुदगुदी भी कितनी भयंकर थी। वह काँप जाते थे। विचारों के झंझावात में कुछ देर डूब जाने के बाद सेठजी उठकर खड़े हो गये। आत्मा ने कहा—"पापी, वापस जा। तेरे लिये वह रास्ता खतरे से

खाली नहीं है।" परन्तु सेठ सागर के चंचल मन ने इसका सफल विद्रोह किया। मन की आवाज के आगे आत्मा की आहट सुनाई नहीं पड़ी।

चल पड़े पुनः उसी ओर। कमरे में देखा कोई नहीं है। सिर्फ ऊपा एक कुर्सी पर बैठी है। ऊपा उठ खड़ी हुई और सेठजी भी कमरे में दाखिल हो गये। सोचा कि अब परिचय देकर अपना महत्त्व इसको कह सुनाऊँ। संध्या वहाँ पर इतने में आ गई। सेठजी पर इसका कुछ अच्छा ही असर हुआ। मुँह बिगाड़कर बोले—"क्यों री संध्या, तू पढ़ती-लिखती नहीं आजकल?"

"आज तो बाबूजी मैं सुबह से पढ़ रही थी। सोचा, जरा इनसे मिल लूँ, पता नहीं, इसने अभी कलेवा किया या नहीं।" सहमती हुई बोल गई संध्या।

"कौन है बेटी यह?" प्रश्नवाचक मुद्रा में सेठजी ने पूछा—

"मेरी नई सहेली।"

"नाम?"

"आपको नाम-वाम से मतलब? ऊपा नाम है।" कुछ बिगड़कर संध्या बोल उठी।

"अच्छा, मुझे जरा एक गिलास पानी पिला।" कहकर सेठजी ने संध्या की ओर इस तरह से देखा, मानो वह कह रहे हों कि क्या तू एक अनजान लड़की के आगे मेरी बेइज्जती करना चाहती है।

संध्या चुपचाप चली गई। वह जाना तो न चाहती थी, परंतु विवश थी। अपने पिताजी के कुकर्मों से भले प्रकार परिचित थी। और भावी घटना ताड़ गई थी। उसके पिताजी उसके चले जाने के बाद ऊषा से किस प्रकार व्यवहार करेंगे, यह उसको मालूम था। उसके चले जाने के बाद कमरे में निस्तब्धता छा गई। रात्रि का प्रथम प्रहर था। आकाश में बिजली कड़क गई और शीत वायु का एक झोंका धीरे से सबको मार गया।

सेठ सागर को इस निस्तब्धता से काफी उत्साह मिला और साँस इकट्ठा करके वह बड़बड़ा उठे—"बेटी, तुम्हें कोई तकलीफ़ तो नहीं है ?"

"जी नहीं। मैं आप लोगों की बहुत शुक्रगुजार हूँ। आप तो सेठ सागर हैं। मेरे पिताजी के मित्र। मुझे यह जान लेने के बाद फिर कौन-सा दुःख हो सकता है।" कमरे की निस्तब्धता को भंग करते हुए संकोच-वश कहती गई।

एक बार फिर वही वातावरण छा गया। कुछ देर बाद सेठजी ने अपनी सारी हिम्मत इकट्ठी की। उसकी ओर बढ़े। लड़की झिझकी और संकोच-वश कुछ पीछे हटकर खड़ी हो गई। आसुरी शक्ति प्रबल होती गई। सेठजी अब की बार की छलाँग में लज्जा, संकोच, सबकी सीमा पार कर गये। किशोरी के हाथों में एक चन्द्रहार देकर उसकी मुट्ठी अपने हाथों से बंद करने लगे।

उसके होठ फड़क उठे, लज्जा से कपोल लाल हो गये, तथा उसके तेज-युक्त नेत्रों से ज्वाला बरसने लगी, पर वह कुछ कह न सकी। इतने में सन्ध्या भी आ गई।

"लीजिये पिताजी !" सन्ध्या ने गिलास सरकाते हुए कहा, पर पिताजी कहीं और पहुँच गये थे। चन्द्रहार ऊषा ने फौरन् उनको वापस कर दिया था। वह इसी सोच-विचार में पड़े थे, अब करना क्या चाहिये। वह वहाँ से भाग जाना चाहते थे। पर कैसे ? ऊषा की क्रोध की चिनगारी उनके हृदय को सन्तप्त कर रही थी।

आवाज एक बार उनके कानों में भनभनाती हुई कमरे में गूँज गई—"बाबूजी ! पानी लीजिये, पानी।"

मुँह फेरकर देखा, तो सन्ध्या वहाँ खड़ी थी। वह और भी भयभीत हो उठे, शायद संध्या ने सब कुछ देख लिया हो। एक सूखा घूँट लेते हुए उन्होंने कुछ कहने के प्रयत्न में गला साफ किया। फिर धीरे से बोल उठे—"सन्ध्या ! पानी वापस ले जाओ। मेरी तबियत ठीक नहीं है।"

"बहुत अच्छा।" कहते हुए कुछ रोष में गिलास को भूमि पर लापरवाही से पटकते हुए सन्ध्या, कोच पर आकर बैठ गई ऊषा भी बैठ गई। ऊषा बगल की चारपाई पर लेट गई।

और सेठजी तुरंत सिर पर पैर रखकर भगे। सेठजी की आत्मा हुंकार कर उठी, मानो उनके ऊपर घड़ों पानी पड़ गया हो।

आकाश में चपला एक बार रेंग गई, और बादलों ने गगन-भेदी गर्जना की। आकाश तथा भू-मंडल चकाचौंध हो गया। प्रकाश में सन्ध्या ने हर्ष से एक बार ऊषा के मुख की ओर देखा। फिर कुछ बोलने के लिये आतुर हुई। अंत में बोल उठी—"ऊषा डार्लिंग, मुझे डर लग रहा है। मेरे पास आकर लेट जाओ।"

ऊषा चुपचाप उठी और सन्ध्या से सटकर लेट गई, परन्तु हर्ष-विषाद और उल्लास की भावनाएँ उसके शरीर में कम्पन करती रहीं। राकेश हँस रहा था। तारिका तथा काली घूँघट से झाँकती हुई विभावरी भी दो क्षण अपने को उसके भुजा-पाशों से पृथक् न कर पाई। प्रेम और उल्लास का साम्राज्य छाया हुआ था। सन्ध्या बोल उठी—"ऊषा सो जाओ। तुम्हें नींद नहीं आ रही है?"

ऊषा ने कहा—"मैं सो तो गई हूँ।"

और, दोनो हँसी में फूट पड़ीं।

---

[४]

प्रात:काल ऊषा नभ-मंडल में लाली बनकर छा गई, और उसके मधुर कंठ से पक्षियों का कलरव सुभाषित होने लगा। भैरवी के कोमल स्वर असीम वेदना से झनकार उठे। वीणा रो उठी और......

ऊषा बिस्तर पर से उठी, और धीरे-धीरे कुछ सोचती हुई आगे बढ़कर रुक गई। अंतर्व्यथा अग्नि बनकर भभक उठी। उसके हृदय में बार-बार यही प्रश्न उठता था—"क्या स्त्री-जाति का भविष्य इतना अंधकारमय है? यदि है, तो ऐसा क्यों? क्या स्त्री अकेली अपनी सहायता नहीं कर सकती? स्त्री को पुरुष की छाया बनकर रहना ही क्या सभ्यता है? माता, पिता तथा पति के अभाव में स्त्री की समाज को कौन-सी आवश्यकता पड़ती है? परन्तु समाज के मनुष्यों में कितने ऐसे भी हैं, जो ऐसी स्त्रियों को पुत्री तथा बहन समझ लिया करते हैं। सेठ सागर ही को देखो। लेकिन कल उनके चन्द्रहार देने का आशय क्या हो सकता है, जब वह मुझे जानते न थे? क्या उनकी नियत खराब है? जो कुछ भी हो, मेरे पास

बचा-खुचा केवल एक धन रह गया है। वह है मेरा सतीत्व। इसको मुझे जान देकर भी बचाना है। पक्षियों से मधुर कलरव, सरिता से उसकी कलकल ध्वनि, मृग-शावक से उसकी छलाँग, तथा चन्द्र से उसकी ज्योत्स्ना, शिशु से उसका चांचल्य एवं सुन्दरी से उसका रूप लुट जाने के बाद शेष रह ही क्या जायगा ?" वह आगे बढ़ गई, चलती गई, और एकाएक किसी की छाया हिलती-डुलती हुई उसके सामने की ओर आने लगी। उसका ध्यान भंग हुआ।

सेठ सागर को नींद उस रात शायद ही आ सकी। शून्य नभ-मण्डल की ओर देखने लगे। चन्द्र के शृंगार तथा उसकी तारिका सहेलियों की ओर देखकर कुछ बड़बड़ा उठे। शाम की घटना ही उनके चिंतन का विषय थी। उनकी अन्तरात्मा से किसी शक्ति ने उनके मन को बहुत धिक्कारा। मित्रता का कर्तव्य एक ओर खड़ा चिल्लाकर कह रहा था—"नीच ! अपनी पुत्री के समान जो कन्या है, उसके प्रति तेरा क्या यही कर्तव्य है ?" मित्रता रो उठी। धर्म हाहाकारकर विलाप करने लगा। लोक-लाज का भय उन्हें दूर से धमकाने लगा। न्याय उनके आगे भयंकर रूप धरकर आया, और बोला—"उस अबला किशोरी के प्रति तेरा क्या कर्तव्य है ? इसका न्याय तू स्वयं कर, और पापी ! याद रख, तू यहाँ पर सब कुछ अपनी संसारी विभूति के बल से कर ले, ईश्वर के न्याय का गला तू नहीं घोट सकता। उसके न्याय में तू अपराधी होगा। तुझको

नरक होगा। गंदी नाली में तेरा जन्म-स्थान होगा, परन्तु तू वहाँ पर भी चैन न पाएगा।"

न्याय, दया, धर्म, कर्तव्य और पुरानी मित्रता की साकार मूर्तियाँ आकर बीभत्स रूप धारण कर मुँह बाए खड़ी थीं। सेठ सागर ने दोनों नेत्रों को बल-पूर्वक मीच लिया, और फिर ध्यान-तन्द्रा में कुछ काल के लिये डूब गए।

एकाएक उन्हें फिर विषय-वासना की लहर का साथ मिला, और वह उसी लहर में बहते चले गए। सोचने लगे—"ऐसी तो अनेक लड़कियाँ हैं, किन-किन के साथ नेम-धर्म निबहेगा, और, फिर बार-बार पंछी फँसता नहीं है। बनाई हुई योजना को सफल करने के हेतु कार्य शीघ्र करना पड़ेगा। कहीं पंछी के पर जम गए, तो इससे बुरा कुछ न होगा?"

सौन्दर्य की मदिरा की एक तरंग का प्यासा अपने सौन्दर्य-मधुशाला की ओर चल पड़ा, और सामने से साक़ी और छलकते हुए प्याले को देखकर नेत्रों की प्यास बुझाने लगा। निर्निमेष नेत्रों में उस प्याले से छलकती हुई उमङ्गों की बाढ़ में वह मनः-कल्पित प्रेयसी के साथ उस पार छलककर बह गया। उसका इस प्रकार छिपकर देखना ऊषा को आँखों से न छिपा। उसने इनकी नीचता को देख लिया। झेंप मिटाने के लिये तुरन्त बोल उठे—"बेटी, इतने सबेरे कहाँ चलीं?"

"सबेरा तो कोई विशेष नहीं है। साढ़े नौ बज गए हैं।

लल्ली दीदी के साथ अभी युनिवर्सिटी जाना है।" कुछ क्रोध को दबाने का प्रयत्न करते हुए बोल उठी—

"हमने सुना है कि तुम पियानो बहुत बजाती हो, और बड़ा मधुर लगता है।" थोड़ा रुककर सेठ सागर बोल उठे।

"मैं दीदी को बुलाए देती हूँ। वह पियानो मुझसे अच्छा बजाती हैं।" इसके बाद वह चिल्ला उठी—"दीदी, लल्ली दीदी, बाबूजी......"

बीच में ही रोककर सेठ सागर बोल उठे—"उसे बुलाने की क्या जरूरत है? मैंने तुमसे यों ही कहा था। अच्छा, मैं जा रहा हूँ। देखो, कभी-कभी मेरे पास आ जाया करो।" सब सेठ एक साँस में ही कह गए, और अपनी बात का ऊषा के ऊपर प्रभाव जानने के लिये उसके मुख-मंडल की ओर मुड़-मुड़कर देखते हुए आगे बढ़ चले।

ऊषा बिना कुछ उत्तर दिए तीर के सदृश अपने कमरे में गई, और जाकर तकिया में मुँह छिपाकर रोने लगी। तब तक पीछे से सन्ध्या ने आकर, उसे उठाकर अङ्क-पाश में कस लिया, और आँसुओं को अपने अञ्चल से पोंछते हुए घबराकर बोली—"ऊषा! पागलों की तरह रोने से फ़ायदा? जल्दी से कपड़े बदल ले। चल जल्दी, देर हो रही है।"

ऊषा आज उदास थी, परन्तु वह सन्ध्या से अपनी अन्तरात्मा के भावों को प्रकट नहीं करना चाहती थी। बोली—"नहीं

दीदी, मैं क्यों रोऊँगी ? आँखों में तिनका पड़ गया था। उसी से आँसू निकल पड़े।" बहाना अच्छा था।

सन्ध्या मन में समझ गई कि यह तिनका कैसा था। बोल उठी—"अच्छा, घबरा मत। मैं तुझे होस्टल में एक कक्ष दिला दूँगी, और तेरे पढ़ने का सारा प्रबन्ध मैं स्वयं करूँगी। तू अब यहाँ अधिक परेशान न हो सकेगी। अब तो चल, उठ।" कहते हुए सन्ध्या ने ऊषा के कपोलों को चूमने के प्रयत्न में सिर आगे बढ़ाया, परन्तु ऊषा लजाकर मुस्कराती हुई उठ खड़ी हुई। दोनों चट तयार हो आइ०टी० कॉलेज की ओर चली गईं। शीघ्र कार के विद्युत्-हॉर्न की आवाज़ धीमी होती गई, और फिर दूर पर एक फीकी-सी झलक दिखाई पड़ी। उसके पश्चात् कार ओझल हो गई।

सेठ सागरमल के हृदय पर जी० आई० पी० का इञ्जन शनटिंग कर रहा था। वह सोच रहे थे—"नाहक़ सुबह वह मिलने गए थे। शायद गुस्सा हो गई हो। बहुत गुस्सावर मिज़ाज की है। परन्तु किशन कहता था कि मुहब्बत की यही पहली सीढ़ी होती है। यदि कोई लड़की किसी को फटकार दे, तो दूसरी सीढ़ी। लेकिन वह गधा है। यदि उससे कोई पूछे कि कोई लड़की किसी वृद्ध की दाढ़ी नोच ले, तो वह शायद इसको मुहब्बत की पाँचवीं मंजिल बताएगा।"

बाहर से शराब के नशे में झूमता हुआ किशन आ ही गया। और उनको अकेला देखते बोला—"हुजूर, किस चिंता में पड़े

हैं ? माल तो हाथ में आ गया है, और आज ही वह सुहावनी रात गोल्डेन नाइट होगी। भौंरे और कली के मिलन की घड़ी आज आ जायगी।" अत्यंत प्रसन्न होते हुए सेठजी बोल उठे—"आओ, मेरे जीवन के कैलेन्डर तथा बीसवीं शताब्दी के शेक्सपीयर। मुझे तुम्हारा, बस तुम्हारा ही तो भरोसा है। बोलो, कुछ खर्च-वर्च चाहिए ?"

किशन धूर्तता से आँखों को नचाते हुए बोला—"सरकार! पुलिसवाले चोर को हवालात में नजरबन्द कर सकते हैं। शिकारी शेर को कटघरे में बन्द कर सकते हैं। सरकार टैक्स को हजम कर लेगी, और कांग्रेसमैन चन्दे को। ऊँट को काटकर गड्ढे में पाटा जा सकता है, और मुर्गी की आँखों पर कपड़ा लपेटकर वह चुराई जा सकती है, परंतु षोडशवर्षीया किशोरियों को खपाने का काम केवल अपने यहाँ है। बस, रुपए-पैसे को ईंधन की तरह जलाना होगा, और दियासलाई तो मैं हूँ ही। बस, पाँच नोट सौ-सौ के फेंकिए। लड़की आपके क़दमों में होगी।

सागर अपनी किफ़ायतशारी से ही धन सञ्चय कर सका था। उसी के बल पर उसकी सत्रह कोठियाँ, उसका बनवाया हुआ आर्यसमाज-मन्दिर तथा उसकी दो कारें थीं। अनेक भाँति से लक्ष्मी की विभूतियों से उनका घर आच्छादित था। उनकी आत्मा को एक बार किशन की इस गुस्ताख़ी से ठेस लगी। क्रोध भी कुछ आया, परन्तु वह उसको मन में दबा गए। शायद

फुलझड़ियों के एजेन्ट किशन की कृपा खो जाने के भय से। उनके आगे सुख-स्वप्न का महल बन उठा। आज ही रात सौन्दर्य-सुरा के एक मधुर घूँट से उनके अधरों का संयोग होगा। भावी कल्पना ने उन्हें खुशी से झकझोर दिया, और वह नाच उठे—"कहाँ जाइहो रे, बाँके नैना चोराइके।" किशन चुपचाप सौ के पाँच नोट लेकर खिसक गया।

आज सेठ सागरमल को उस सौन्दर्य-सरिता में मज्जन करने का अवसर मिलनेवाला था, जिसके लिये संसार भटकता फिरता है। प्रत्येक युवक के हृदय में बिजली दौड़ा देनेवाली इस शक्ति ने संसार को नचा रक्खा है। आकाश में डोलनेवाले चन्द्र की कांति भुलाई जा सकती है, परन्तु सुन्दरी के मधुप नयनों से सजे हुए कान्ति-युक्त शशि-वदन की आभा को भुलाया नहीं जा सकता।

सेठ सागरमल ध्यान-निद्रा के अङ्क में छिप चुके थे, परन्तु उनकी परिचित कार की घड़घड़ाहट उनको सुनाई पड़ी।

अपने कक्ष में भोजनोपरान्त रात्रि के प्रथम पहर में सेठजी विश्राम करने चले गए। सामने घड़ी टिक-टिक करती निरन्तर गति से चली जा रही थी। टन, टन, टन, टन, टन, टन, टन, टन। घड़ी में आठ बज गए। इसी प्रकार नौ बजे फिर टन-टन का क्रम शुरू हो गया। और सेठजी दस बजे सो गए, शायद निराश होकर। कमरे में तब तक कोई आया नहीं। फिर घड़ी ने ग्यारह बजाया। सेठजी उठे। उठकर खिड़की खोलकर झाँका,

तो लल्ली के कमरे में प्रकाश हो रहा था। शायद वह पढ़ रही थी। एक-एक सेकेन्ड उनको पहाड़-सा मालूम होता था। टिक-टिक से उन्हें चिढ़ हो गई। खीझकर घड़ी की सुई घुमाने लगे, और उसका पूरा बारह घंटे का एक चक्र दिया। तब उन्हें शान्ति मिली। फिर अपने बिस्तर पर लेट गए। मुँह दरवाजे की ओर से फेर लिया। मन में तय कर लिया कि सुबह उठते ही किशन को बुलाकर उसकी मरम्मत करूँगा। इतने में दरवाजा भड़ से बोला, और किशन अर्ध-मूर्च्छित स्थिति में ऊषा को बाहों में लेकर आ गया।

सेठजी इस भीषण काण्ड को देखकर प्रथम तो कुछ मुस्कराए—शायद अपनी दौलत की शक्ति पर, फिर गम्भीर पड़ गए, और बोले—"यह तो कुछ बोल नहीं रही है? बिलकुल सो गई है?"

"जी नहीं। बेहोश है। मैंने क्लोरोफार्म सुँघा दिया है।"

"तुमने क्लोरोफार्म सुँघा दिया है, सच?"

"जी। अब मैं जा रहा हूँ।"

"अच्छा, जाओ।"

"पर मेरी बख्शीश?"

"सुबह।"

"जी, अच्छा।"

किशन धीरे से निकल गया। और सेठ सागरमल पहले दो मिनट तक निर्निमेष उसकी भोली-भाली आकृति पर अपने नेत्र

फाड़-फाड़कर देखते रहे। उसके बाद सोचने लगे कि अब यह रूप और इस रूप का शृंगार तथा इसका रस, और इसकी मादकता विधाता ने उन्हीं के लिये रची थी। क्या अलौकिक सौन्दर्य था! केश शीत पवन के झकोरों से लहरा उठते थे। उन केशों की एक लट खाट के नीचे धरती पर पड़ी थी और एक खाट पर लहरा रही थी। कमल-किशलय के समान नेत्र तथा मुखाकृति अत्यन्त गम्भीर और तेज-युक्त थी। शशि-वदन में गुलाबीपन लिये हुए शांति छवि थी।

इस प्रकार लगभग दस मिनट तक सेठजी और देखते रहे। मुँदे हुए नेत्र तथा गुलाबी कपोलों पर कामदेव खेल रहा था। अब इनसे अधिक रहा न गया। वह खाट पर बैठ गए। बैठते ही सागर के शरीर में एक बिजली-सी लहर दौड़ गई, जिससे उन्हें कम्पायमान होना पड़ा। उनका शरीर काँपने लगा। हृदय में अंतर्द्वंद्व छिड़ गया। वासना की एक लहर पुनः वेगवती तरंग बनकर चली, और सेठजी ने काँपते हाथों से उसके पैरों पर की साड़ी पकड़ ली। उन्माद में उनका मस्तिष्क खो गया। संसार सुख के लिये है। पुरुष की वासना-तृप्ति ही के लिये तो नारी का आविर्भाव हुआ है। वह पुरुष के आलिंगन-पाश में बँधती है, फिर दोनो के मध्य यह आवरण कैसा? उसे हट जाना चाहिए। मन में राक्षसी प्रवृत्ति प्रबल हो उठी। हाथ उठे, परन्तु काँपकर। शरीर भी कम्पायमान हो उठा।

इसके पश्चात् उन्हें अपने हृदय में अपने मित्र की भयंकर चीत्कार सुनाई पड़ी। सेठजी उठकर खड़े हो गए। देखा वही भोला-भाला रूप। एक बार कमरे की चारों खिड़कियों से झाँका, ताकि कोई आ न रहा हो। देखा तो सन्ध्या खिंच आँक कर रही है। लौटकर आगे बढ़े। वैसे ही किसी ने आकर कहा—"किवाड़ खोलो।" सेठजी की नाड़ी तूफ़ान मेल होकर चल पड़ी। किवाड़ों की साँकल जोरों से खड़की—"पिताजी, किवाड़ खोलिए।"

"लल्ली, क्यों शोर मचाती हो? क्या बात है?" कहते हुए कमरे में से कफ साफ़ करके बोले।

"किवाड़ खोल दीजिए।"

"नहीं तो?"

"नहीं तो मैं कोठे पर से गिरकर जान दे दूँगी।"

सेठजी के काटो तो खून नहीं। निदान किवाड़ खोलने पड़े।

संध्या ने आते ही प्रश्न किया—"ऊषा को आपने देखा है?"

"शाम को तो तुम्हारे साथ कॉलेज से आई थी।"

"जी नहीं। मेरा मतलब है कि यहाँ इस समय है या नहीं?"

"मुझे क्या मालूम? छिपी होगी कहीं। शैतान तो है ही।"

सेठजी ने इस वार का प्रत्युत्तर वार से ही दिया। बोले—"तुम उसको पढ़ाते समय बहुत भला-बुरा बकती हो। तुम्हें उसका ख़याल करना चाहिए।"

ताने कसते हुए वह आवेश में बोली—"आप तो ख़याल करते ही हैं, मैं क्यों ख़याल करूँ ? अच्छा, ज़रा उसे आप ढूँढ़ दीजिये।"

रूपली ने आगे बढ़कर चारपाई पर से चादर हटाकर कहा—"यह तो सो गई है।"

"नहीं बेटी ! यह बेहोश है।"

"अच्छा, तो आपकी ही यह कारस्तानी है ? अब समझी। मुझसे आपकी यह हालत देखी नहीं जाती है पिताजी ! गला घोटकर हम दोनों को अब मार डालिए।" सन्ध्या क्रोध से काँपने लगी। उसका मुख लाल हो गया। नेत्र ज्वालामय हो गए। सेठ सागर पर घड़ों पानी पड़ गया। वह वहीं जमे रह गए, और फिर सिर नीचे किए बाहर निकल गए।

सन्ध्या रूपा के गले से लिपट गई, और फूट-फूटकर बहुत देर तक रोती रही।

---

[५]

अर्धरात्रि को चंद्र अपने भुजा-पाशों से विभावरी को आलिंगन करने चला। विभावरी ने अपना काला घूँघट अपने कोमल करों से इठला-इठलाकर खोला, और फिर चन्द्र ने उसे अपने अंक में कस लिया। विभावरी कुछ सकुची, पर अपने प्रियतम के भुजा-पाशों में अपने को पाकर भूल गई। दोनों हृदय के अरमानों ने अँगड़ाई ली, और फिर मन्द मुस्कान से चन्द्र खिल गया। चन्द्र हँस रहा था—शायद ऊषा के मनोमालिन्य तथा दुर्दशा पर। ऊषा के आँसू आँखों में ही सूख गये।

सन्ध्या ने अपने ड्राइवर कृष्णचन्द्र को निकाल देने का मन में फ़ैसला कर लिया। वह कुछ रोष में उठी, और चल पड़ी एक ओर। दीपक के घर की सड़क पर वह चली जा रही थी। घर दस क़दम और रह गया। उसने सोचा कि नारी-जाति का पुरुष के सहयोग बिना कोई अस्तित्व नहीं है। उसे दीपक की सहायता इस विषय में लेनी ही पड़ेगी। फिर दीपक ही तो उसका सब कुछ था। पिता कामी था, मा बचपन में ही बेटी को छोड़ स्वर्ग सिधार गई। कृष्णचन्द्र उसका ड्राइवर उसके

पिता की विषय-वासना की तृप्ति में लगा रहता था। इसी से उसने काफ़ी पैदा कर लिया था। उसने दीपक को जगाकर उससे सब बातें कह देने का निश्चय कर लिया।

दीपक निद्रा के अंक में विलीन हो चुका था, पर उसे स्वप्न-सा दिखाई पड़ा। उसने देखा कि संध्या के घर शहनाई बज रही है, और बिनोद दूल्हा बनकर बारात के साथ संध्या के घर जा रहा है। बारात शादी करके दुलहिन के साथ वापस आ रही है, और वह दूर से खड़े-खड़े सब कुछ देखता रहा। आगे एक नदी आई और भयंकर तूफ़ान भी साथ। संध्या डोले में से निकलकर बाहर आ गई, और नदी के किनारे खड़ी हो गई। एकाएक चपला नभ-मण्डल में कड़क गई, और उसके चकाचौंध में नदी के उस पार एक सुंदर युवक दिखाई पड़ा। वह चिल्ला पड़ी—"दीपक, दीपक! मुझे बचाओ।" वह जल के अनन्त गहराई में कूद पड़ी। तूफ़ान ने उसको डुबो दिया। दीपक के हृदय में प्रश्न उठा कि कहीं ये स्वप्न तो नहीं हैं? वह चौंककर उठ बैठा, और ज़ोर से चिल्ला पड़ा—"संध्या, मैं आ गया।"

उसने कान लगाकर सुनने की चेष्टा की कि कोई बुला रहा है। उसको संध्या की परिचित कोयल-कूक सुनाई पड़ी। उसने जाते ही पूछा—"क्या बात है संध्या? भली-चंगी तो हो न?"

संध्या दो क्षण चुप रही। दीपक आज उसकी इस चुप्पी का

अर्थ न लगा सका। उसने संध्या की आँखों में झाँककर जानना चाहा। तब तक संध्या की भीगी पलकों से दो मोती ढुलक गए। दीपक से अब न रह गया। उसने संध्या को अपने अंक में समेट लिया। मुख पर प्यार की हलकी-सी एक चपत लगाकर बोला—"संध्या, क्या यह सच है ?"

"क्या ?" संध्या प्रश्नवाचक मुद्रा बनाकर धीरे से बोली।

"जो मैंने अभी देखा है।" अपने मुख को गम्भीर बनाकर दीपक ने कहा।

"मैं नहीं जानती कि आपने क्या देखा, पर जो मैंने देखा, वह सच है।" लम्बी-सी निःश्वास छोड़कर उसने कहा। चाँदनी खिली हुई थी। कहीं पर दूर से मुरली की ध्वनि लहरा-लहराकर आ जाती। गोमती नदी की चंचल लहरें वहाँ से क़रीब सौ क़दम पर ही खेला करती थीं। मुरली एक बार फिर लहरा गई। दीपक ने कहा—"चलोगी ? आओ, चलें उधर ही।"

संध्या ने प्रश्न करते हुए प्यार भरे नेत्रों से दीपक को देखा, और बोली—"यह ध्वनि कहाँ से आ रही है ?"

दीपक ने कहा—"शायद किसी विरह-विकलित हृदय की वेदना है, जो मुरली में समा गई है। आओ, चलें देखें।"

नाव तरती हुई किनारा छोड़ चली, और चल पड़ी बीच धार की ओर। चन्द्रमा शीतल, सुन्दर लहरों में नाच रहा था। दीपक संध्या से सटकर बैठा था। पवन का एक झकोरा आया,

और सुनहले केशों की लटें नाचने लगीं। दीपक संध्या की ओर कुछ देर तक शांति से देखता रहा।

रात्रि में सुनसान स्थान और शांत वातावरण में उदासी-सी छा गई थी। एकाएक शांति भंग हुई।

दो क्षण के लिये संध्या दीपक के प्यार में सब कुछ भूल गई, और भोलेपन से फूट पड़ी—"यदि तूफ़ान आ जाय, तो?"

दीपक भी वैसे ही बोल पड़ा—"तो हम नाव उस पार आसानी से खे ले जायँगे।"

"और यदि नाव तूफ़ान में भँवर की ओर चल पड़ी, तब?" उसी प्रकार संध्या ने फिर प्रश्न किया।

दीपक ने अब की जरा सोचकर उत्तर दिया—"मुहब्बत का तूफ़ान नदी के तूफ़ान से तो क्या, समुद्र के तूफ़ान से भी अधिक प्रबल होता है।"

संध्या ने अब की बार स्पष्ट पूछा—"तो क्या तुम मुझसे मुहब्बत करते हो?"

दीपक ने श्वास बटोरकर कहा—"हाँ, संध्या! मैं तुमको बहुत चाहता हूँ। दीपक की शोभा संध्या के बिना कैसे हो सकती है? दीपक औरों को प्रकाश वितरित कर सकता है, परन्तु स्वयं फीका रह जाता है। उसकी शोभा तो उसकी संध्या ही बढ़ा सकती है।"

प्रसङ्ग को छोड़ संध्या ने प्रश्न किया—"एक बात पूछूँ, बताओगे?"

"क्या है ? कहो ।"

"ऊषा को अपने पास बुलाकर रक्खो ।"

"क्यों ?"

संध्या के मन में एक बार आवेश का तूफ़ान-सा आया, और उसने सोचा, उस रात की सारी घटना वह उसे सुना दे, परन्तु कुछ सोचकर उसने कहा कि यह तो उसके पिता की ही मान-हानि होगी। उसने सोचकर बुद्धिमत्ता से उत्तर दिया—"वैसे ही। मैं ख़ुद भी पढ़ती-लिखती नहीं हूँ, और वह भी मेरे-सी ही हो जायगी। तुम्हारे पास उसको काफ़ी डर रहेगा, और तुमको देखकर वह भी पढ़ती रहेगी।"

दीपक ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। लापरवाही से कहने लगा—"जब इच्छा हो, भेज देना। कोई बात नहीं है।"

चाँदनी अन्तिम बार चमचमा उठी। लुढ़कती हुई लहरें चाँदी के टुकड़ों के सदृश जान पड़ीं। सामने से पक्षियों का एक समूह कलरव करता हुआ निकल गया। संध्या ने ऊपर देखा, तो ऊषा बीरबहूटी-सी खिलकर हँस रही थी। शायद उसके हृदय ने इस मिलन का गूढ़ तत्त्व भाँप लिया हो। अब उसका भविष्य भी शायद उज्ज्वल हो जायगा। संध्या ऊपर ही देखती रही। बादलों की टोली ने ऊषा की लालिमा को ढक लिया। बदली छा गई। सारिकाओं की एक उज्ज्वल रेखा ने आकाश में एक चलती-फिरती रेखा-सी बना दी। संध्या ने कहा—"दीपक, सुबह हो गई। अब लौट चलना चाहिए।"

दोनों ने अपने घरों की राह ली। ऊषा किवाड़ बन्द किये सिसक रही थी। संध्या ने बुलाया। संध्या के सूखे होठों पर हरियाली-सी दौड़ गई। तुरंत उठकर, किवाड़ खोलकर संध्या से लिपट गई। बोली—"दीदी, तुम कहाँ चली गई थीं? मुझे डर लगता था।"

संध्या ने गम्भीरता से कहा—"मैं उसी भय को मिटाने गई थी, अब तेरा कोई कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। तेरे लिये मैं संसार में सबसे लड़ जाऊँगी।"

अपने को अनजान बनाते हुए ऊषा ने अपने मस्तक की लकीरों को खींचा, और भौहों को तानते हुए बोली—"दीदी, यह क्या कह रही हो? मैं कुछ नहीं समझी।"

संध्या ने कहा—"ऊषा आज तुझे जाना है। दीपक बाबू के यहाँ तू स्वतंत्रता-पूर्वक रह सकेगी, और मैं तो आती ही रहूँगी। कोई डर की बात नहीं है।"

ड्राइवर कृष्णचन्द्र सब कुछ किवाड़ों की आड़ से सुनता रहा, और फिर सेठ सागर से सारी गाथा गा गया। सेठ सागर भी तिलमिला गये। बोले—"अब क्या होगा रे?"

कृष्ण भी फेर में पड़ गया, और फिर कहने लगा—"मुझे पाँच मिनट आँख मूँदकर सोच लेने दीजिये। अभी झट स्कीम बनाता हूँ।" यह कहकर वह विचारों में उलझ गया। बार-बार मत्थे को सिकोड़ता रहा, पर कोई बात समझ में नहीं आई।

तब तक कुछ सोचकर मुस्कराने लगा। उस मुस्कराहट से कितनी भयंकरता टपक रही थी, यह सेठजी से छिपा न रह गया। हकबकाकर सेठजी बोले—"कुछ स्कीम बनाया, या यों ही मुँह बना रहा है?"

उसने कहा—"उपाय इसका एक है, पर वह है खतरनाक।"

"वह क्या?"

"विभावरी को पटाना पड़ेगा।"

"किस लिये?"

"उसका बच्चा मिल जाय, तो उसको ऊषा की गोद में डाल दिया जाय। तब यह शर्म के मारे न जा सकेगी।"

"परंतु वह बच्चा कैसे मिलेगा?"

"यह तो मेरे बाएँ हाथ का खेल है। बस, स्कीम बन गई। अब कोई डर नहीं।"

बगल के कमरे में ऊषा और संध्या में घुल-घुलकर बातें हो रही थीं। संध्या ने सलाह देते हुए कहा—"चलो, तो अभी तुमको वहाँ पहुँचा आऊँ। देर करने से वह पापी कुछ और योजना बनाकर हम दोनो को परेशान करेगा।"

ऊषा को साथ लेकर संध्या मुश्किल से दस क़दम गई होगी कि उसे पीछे से आवाज सुनाई पड़ी—"ठहरो।" संध्या ठिठक गई, और ऊषा भय से काँपने लगी। कृष्ण अत्यन्त भयानक तथा बीभत्स रूप बनाकर आया। दोनो हाथों को पसारकर

उसने कहा—"इस चादर को उघारो।" संध्या ने चादर हटाकर देखा, तो एक सांवले रंग का नन्हा-सा शिशु प्रगाढ़ निद्रा में हिलोरें ले रहा था।"

संध्या ने पूछा—"इसका मतलब? यह तो विभा का लड़का है, इसे क्यों उठा लाये हो?"

कृष्ण ने तेवरी चढ़ाकर गुस्ताखी के साथ कहा—"विभा का नहीं, तुम्हारी लाड़ली प्रभा का है।"

संध्या सरोष कड़क उठी—"किशन, तू बहुत बदतमीज़ हो गया है। क्या कह रहा है, साफ़-साफ़ कह।"

किशन ने रूपा की ओर इशारा करके कहा—"यह नन्हा-सा सूरज का टुकड़ा रूपा से ही तो पैदा हुआ होगा?"

रूपा रो पड़ी। संध्या ने पिस्तौल निकाल ली, और बोली—"देखो किशन, अपनी ज़िन्दगी से मत खेलो, वर्ना पछताओगे।" इतना कहकर उसने कृष्ण को एक धक्का दिया। वह पीछे हट गया, और बच्चे को भूमि पर रखकर वापस चला गया। कुछ दूर चलकर रुक गया, और मुड़कर बोला—"'बन्दर की बला तबेले के सर।' अपने गले की रस्सी दूसरे के गले में फँसाना चाहता हो? हमारी कम्पनी इतनी बेवक़ूफ़ नहीं है।" यह कहते हुए वह एक बार हँसा, और फिर वापस चला गया।

नवजात शिशु पाषाण-हृदय भूमि पर बिलख पड़ा। बच्चे के

इस अहक ने वातावरण में एक जादू-सा पैदा कर दिया। अभी तक जिस बच्चे को देखकर दोनों सहेलियों ने घृणा से नाक-भौं सिकोड़ी थी, अब उसी बच्चे के लिये दोनों के हृदय-शृंग से वात्सल्य-प्रेम के सोते कल-कल ध्वनि करते उमड़ चले।

सन्ध्या बच्चे को उठाकर, अंक में धारण कर आगे चल पड़ी। शायद दीपक के घर की ओर।

---

[६]

सूर्य प्रखर होकर आकाश में चढ़ने लगा। आज की रात्रि, रात्रि का स्वप्न, सन्ध्या का आना और बीती प्यार की घड़ियाँ, उसके हृदय-पटल पर चलचित्र के समान दृष्टिगत होते। सन्ध्या इतनी भोली भी हो सकती है, उसे आज आभास हो सका। राकेश का उसके मुख पर चाँदनी बिखेरना और चंचल लहरों में खेलता हुआ चाँद उसको स्पष्ट दिखलाई पड़ा। डाँड़ पकड़कर वह धीरे-धीरे भूल रहा है। संध्या उसकी जाँघों से सटकर उसके वक्षःस्थल पर सिर टेककर बैठी है। एक हाथ उसके गले में डाले पड़ी है, और एक हाथ वह पानी में झकझोरकर लहरों से खेल रही है। उसको सब बातें एकाएक याद आने लगीं। वह सोचने लगा कि ऊषा एक भगाई हुई लड़की ही तो है, वह उसको अपने पास क्यों रक्खेगा? संध्या बार-बार उसको मेरे पास भेजने पर जोर देती थी। कहीं वह किसी और से प्यार तो नहीं करती, ताकि मैं ऊषा के उरालिंगन में जकड़ा रहूँ, और संध्या को कुछ कहने या करने का अवसर मिले। उसने सोचा कि वह ऊषा को अवश्य ठुकरा देगा। परन्तु एक अबला नारी—

उसका सहायक भी तो कोई नहीं है। परन्तु उसको संध्या अपने पास से हटाना क्यों चाहती है? ऊषा भी तो कहीं उसी से प्यार नहीं करती है? लेकिन इससे क्या? "मैं विचलित नहीं हो सकता।" इतना उसके मुख से निकल गया। कुछ विलम्ब और हुआ। मन ने अपनी करवट बदली, और एक आसुरी शक्ति ने मन में जड़-बुद्धि का संचार किया। उसने सोचा कि है तो वह अत्यंत सुन्दरी! सब लोग तो ऐसी लड़कियों के लिये दिन-रात तड़पते रहते हैं। विधाता उसके लिये स्वयं भेज रहा है, और फिर बड़े-बड़े तपस्वी विचलित हो गए हैं। उसी की एक बात तो है नहीं। सौन्दर्य-मदिरा का घूँट यदि मिल सकता है, तो प्यासा अपनी प्यास किस प्रकार रोके? और यदि ऐसा करे, तो अपने साथ अत्याचार करना होगा। जैसे किसी का हृदय दुखाना शास्त्रों में पाप लिखा है, वैसे ही अपना हृदय भी दुखाना पाप ही है। विचारों के उलझन में वह उतरा-उतराकर डूबता रहा। उसको जान पड़ा, जैसे संध्या की साकार मूर्ति आकर उसके आगे खड़ी होकर मानो कह रही हो—"इतने नीच विचार तुम्हारे हृदय में आ कैसे गए?" दीपक ने मुश्किल से अपने को सँभाला, और इधर-उधर देखने लगा, कोई है तो नहीं।

किवाड़ खुले। आगन्तुक ने कक्ष में प्रवेश किया। दीपक कोच पर बैठने का इशारा करके बोल उठा—"सेठजी, तशरीफ रखिये।"

सेठ सागर ने अपने चश्मे को सरकाकर नाक पर चढ़ा लिया,

और शेष स्थान में से झाँककर बोले—"बेटा, तुझे एक खुश-खबरी सुना दूँ ?"

दीपक ने भी उत्सुकता प्रकट की—"आखिर कहिये भी।"

सेठजी ने कुछ मुस्कराते हुए दीपक को आँखों में झाँककर अपने अरमानों की उमङ्ग में उसको भी बहाने का प्रयत्न करते हुए कहा—"मैंने सोचा कि तुम्हारी शादी अब लल्ली से जल्द कर डालूँ। तुम्हारे पिताजी को भी अभी सूचना दूँगा।"

"आखिर इतनी जल्दी काहे की है। अभी तो मैं अध्ययन कर रहा हूँ। इस कार्य के समाप्त कर लेने के बाद और सब कार्य ..।"

इसके बाद कुछ क्षण कमरे में निस्तब्धता छाई रही। कृष्ण-चन्द्र, जो अब तक नजर नीची किये बैठा था, बोल उठा—"अच्छा, तो बाबूजी, अब हम लोग चलें ?"

"अच्छी बात है। हमारे योग्य जो सेवा हो, सो कहियेगा।" आवश्यकता से अधिक नम्रता के साथ दीपक ने कहा।

सेठजी ने कृष्ण की ओर देखा। उसने सेठजी को आँखों से इशारा किया, जिससे प्रेरित होकर सेठजी ने कहा—"बेटा, एक बात और कहना है।"

"वह क्या ?" विस्मय-पूर्वक दीपक ने प्रश्न किया।

"जमाना आजकल खराब है। ऐसी-वैसी लड़कियाँ शहर में बहुत फिरा करती हैं। कहीं किसी के चक्कर में न आ जाना। कहीं कोई तुम्हारी सुन्दर नाक देखकर तुम्हारे पीछे पड़ जाय।"

दीपक मुस्कराकर लजा गया। दूसरे ही क्षण वह गम्भीर हो उठा—"आपका आशय मैं नहीं समझा।"

"संक्षेप में बता दूँ, केवल दो अक्षरों में?"

"जी हाँ, मैं बिलकुल नहीं समझा।"

"तो सुनो, 'ऊषा' क्या समझे?"

"सब कुछ समझ गया। आप लोग बेफिक्र रहिये। पतिङ्गे जला करते हैं, पर दीप उनकी कोई परवा नहीं करता। वह उनसे प्रेम-प्रणय करने कभी नहीं दौड़ता। बस, कुछ और कहना है?"

"हाँ, कहना है। बहुत कुछ कहना है।" कहते हुए सन्ध्या ने ऊषा और नवजात शिशु की किलकारियों के साथ कमरे में प्रवेश किया। सेठ सागर ने मुख पर बनावटी गम्भीरता तथा क्रोध से ऊषा की ओर इंगित करके कहा—"यही है वह आवारा लड़की, जिसका मुझे तुम्हारी तरफ से डर है। निकाल दो इसको यहाँ से, भगा दो इसको यहाँ से।" सेठजी गुस्से से काँपने लगे।

सन्ध्या आगे बढ़ी, और पिताजी की ओर तेज-युक्त नेत्रों से देखते हुए बोली—"पिताजी! बस...! अब चुप हो जाइए। उसे कुछ न कहिये। मैंने उसे जीवन-दान दिया है। क्या आप उसे मार डालना चाहते हैं? आपकी आँखों से आग बरस रही है, और उसकी आँखों से ठंडा पानी। आग-पानी का मिलाप नहीं होता। इसका परिणाम धुएँ की तरह आकाश में उड़ जाना है।"

दीपक उलझन में पड़ गया। कभी सन्ध्या की ओर देखता, कभी सेठजी की ओर, और कभी-कभी ऊषा के म्लान मुख की ओर देख-देखकर कुछ सोचता, कुछ भूल जाता था। ऊषा की आँखों से आँसुओं की धारायें निकल रही थीं। दीपक का हृदय भीग गया। उसकी लौ ऊँची उठी, और उसके हृदय में तूफान-सा मच गया—"ऊषा बेबस लड़की है। उसको आश्रय देना चाहिए।" परन्तु दूसरे क्षण अपने और सन्ध्या के रास्ते में वह कहीं दीवार न बनकर खड़ी हो जाय, उसके दिमाग में घूम गया। विचारों की गहराई में दीपक खो चुका था। सन्ध्या ने दीपक की आँखों में आशा की थोड़ी-सी झलक देखी। बेचारी फूट पड़ी—"दीपक! बोलो, तुम क्या कहते हो? मेरी बात में तुम्हें कोई एतराज तो नहीं है? जो कुछ कहना है, साफ कह दो।"

दीपक ने सिर ऊपर उठाया, और सन्ध्या की आँखों में झाँककर असलियत को जानना चाहा। कुछ रुककर वह बोला—"सन्ध्या, मैं कुछ भी उत्तर नहीं दे सकता।"

"तो तुमने मेरी बात का विश्वास नहीं किया?" सन्ध्या ने विरक्ति से कहा।

"नहीं सन्ध्या, तुम नहीं समझीं।"

कुछ परेशान होकर उसने कहा—"मैं सब कुछ समझ गई। तुम्हारा हृदय पत्थर है। उसमें दया नहीं, केवल आँच निकल ... है। दीपक, मुझे मालूम होता है कि तुम कायर हो। तुम मुझसे प्रेम नहीं करते हो। तुम मुझे धोखा दे रहे थे।"

वह सब कुछ अग्निमय नेत्रों से एक साँस में कहकर हाँफने लगी। उसे विश्वास नहीं था कि उसका दीपक इतना संकुचित विचार का होगा।

दीपक के मन में एक बार फिर आवेश आया, तो उसने पिछले फैसले को बदल डालने का पूरा निर्णय कर लिया। उसके होंठ अनायास फड़क उठे—"मैं ऊषा को अवश्य रक्खूँगा, मैं ऊषा को अवश्य रक्खूँगा। ऊषा! आ जाओ, मेरे पास रहो।"

"क्या कह रहे हो बेटा ?" कुछ परेशान होकर सेठजी बोल पड़े।

गूँज सुनाई पड़ी। दीपक का ध्यान भंग हुआ। बोला - "सन्ध्या !" पर सन्ध्या और ऊषा वहाँ कोई न थीं। सब दीपक की प्रथम बार की कायरता देखकर चुपचाप चली गई थीं। वह घबरा उठा। दरवाजे की ओर बढ़ गया। सामने सड़क पर कोई न था। शायद वह दोनों सहेलियाँ दूर चली गई थीं। वह पछाड़ खाकर कुर्सी पर गिर पड़ा।

---

[७]

रिमझिम-रिमझिम वर्षा हो रही थी। सन्ध्या और ऊषा सड़क पर भीगती हुई चली जा रही थीं। आकाश ने बीभत्स रूप धारण किया। दामिनी दमक गई, और गगन-मंडल प्रकाशमय हो गया। पर चपला का अस्तित्व ही क्या ? चमकी और ग़ायब हो गई। क्षण-भर के लिये कठिनाइयाँ तूफ़ान के झकोरों के साथ आईं। एकाएक कड़ाके के शब्द से एक पेड़ टूटकर भूमि पर आ गिरा। ऊषा संध्या से लिपट गई, और सूर्य आशा बनकर चमकता हुआ आ निकला। सन्ध्या बढ़ चली नव-विकसित ऊषा की ओर—शायद विनोद के घर।

और विनोद की दशा—शादी हो जाने के बाद प्रायः देखा गया है कि युवकों की प्रवृत्तियाँ पढ़ने की ओर से हटकर भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में बँट जाया करती हैं। खासकर जब लड़कों को आर्थिक चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं होती, विषय-वासना की ओर कुछ-कुछ मन बढ़ता है। लड़कियों के बारे में अधिक देर तक सोचते रहना उनका प्रमुख कार्य हो जाता है। ऐसे लोग पार्क में ऐसी बेंचों पर बैठते हैं, जिन पर कोई महिला

बैठी हुई हो। रेल के उन्हीं डिब्बों में आसीन होते हैं, जिनमें भोलीभाली सूरतें अधिक मात्रा में नजर आती हों। स्त्रियों की संगति उन्हें अत्यंत प्रिय होती है, परन्तु वे देखने में ऐसे मालूम नहीं पड़ते। कारण यह है कि उनको अपना यह कार्य बहुत सावधानी से करना पड़ता है। इस सावधानी में केवल आडम्बर ही होता है। स्त्रियों के बिना उन्हें बिलकुल अच्छा नहीं लगता। परंतु यदि कोई स्त्री उनके समीप बैठी हो, तो वे उसको सदा छिपकर देखते हैं। लेकिन यदि वह देखना चाहे, तो उसको अपनी ओर से लापरवाही दिखाने के लिये वे इधर-उधर झाँकने लगते हैं। यह अवस्था यहाँ तक पहुँच जाती है कि यदि उनसे उनका कोई परिचित मिल जाय, तो वे बहुधा आध्यात्मिक विषय में बातें करते हैं, ताकि सुननेवाली लड़की उनकी और और आकर्षित हो। परन्तु इस श्रेणी के युवकों में कायरता और संकोच की मुख्य विशेषता है।

विनोद भी ऐसे ही युवकों में था। वह लड़कियों के बारे में बहुत रूचि रखता था। प्लेट-फ़ार्म पर बहुधा वह अनायास ही टहला करता था। वह प्रेम की बहुत परिभाषायें सुन चुका था। उसके हृदय में किसी लड़की से प्रेम करने की बहुत प्रबल इच्छा थी। साथ-ही-साथ वह सौंदर्योपासक भी था। वह प्रेम करना चाहता था किसी सौन्दर्य की प्रतिमा से। किसी सुंदर किशोरी को देखने के बाद वह प्रायः नेत्र मूँदकर उसका ध्यान किया करता था, और अपनी प्रेम-पूजा कहाँ तक सफल

रहो, यह वह उसके बर्ताव से तथा कभी उससे बातचीत करके जानने की कोशिश करता था।

पानी मूसलाधार बरसना शुरू हो गया। विनोद अपने ऊपर-वाले कमरे की खिड़की से प्रकृति का तमाशा देखता रहा। एक कार सरसराती हुई निकल गई। सड़क पर उसकी सहपाठिनी उसी ओर चली आ रही थी। कार ने सड़क के गड्ढों में भरा हुआ पानी उछाला। संध्या के कपड़े कीचड़ से खराब हो गये। विनोद हँस पड़ा। अब की ध्यान-पूर्वक जो देखा, तो उसका रुख इनके ही घर की ओर था। वह एक बार खुशी से उछल पड़ा, और जाकर चुपचाप किवाड़ की साँकल उतारकर फिर ऊपर चला आया।

संध्या भी सीधे उसके घर पर रूपा को लेकर चली आई। बहुत ही नम्रता तथा गम्भीरता के साथ विनोद ने दोनों किशोरियों को चेयर पर बैठने का इशारा करते हुये कहा—"बैठिये, तशरीफ़ रखिये, मैं अभी आ रहा हूँ।" यह कहता हुआ वह बिखरे हुए बालों को कंघी से सवाँरने भीतर की ओर चला। दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखा। सब कुछ ठीक था, पर क़मीज़ का कालर ज़रा मैला था। झट बक्स खोल, दूसरी धवल कमीज़ निकालकर पहनी, तथा प्रेम के इन्टरव्यू में आकर शामिल हो गया। रूपा थोड़ा मुस्कराई, पर संध्या गम्भीर रह गई। दो क्षण कक्ष में निस्तब्धता छाई रही। फिर संध्या ने गम्भीरता से प्रश्न किया—"हम लोग आपसे एक ज़रूरी काम से मिलने आये थे।"

"कहिये भी, ऐसी कौन-सी गम्भीर बात है।" विनोद कुछ घबरा गया। आज से चार-पाँच दिन पहले उसने संध्या पर एक दिन क्लास में आवाजें कसी थीं। दीपक ने उसका विरोध भी किया था। उसको वही बात याद आ गई। शायद ये सब मुझसे संघर्ष करने आई हैं। कुछ हिम्मत उसने बटोरी।

संध्या के होंठ हिले। कुछ दर्द-भरी आवाज थी। मुख से शब्द प्रस्फुटित होकर शून्य में सिगरेट के धुयें की तरह छा गये।

विनोद सुन नहीं पाया। आवाज बहुत धीमी थी। परन्तु झूठमूठ सिर हिला दिया, जैसे कि वह आगे क्या हुआ, यही जानना चाहता हो। इस बीच उसने ऊषा की ओर छिपकर देखने की भी कोशिश की, परन्तु संध्या ने उसको अपने शब्दों तथा नेत्रों में बाँध लिया।

संध्या ने फिर कहना शुरू किया—'वैसे तो मुझे आपसे वार्तालाप करने का कोई ऐसा विशेष अवसर नहीं आया है, परन्तु आज आना पड़ा। इसी से आप अन्दाज कर सकते हैं कि मैं किसी परेशानी में हूँ।" इतना कहकर उसने एक लम्बी साँस लेकर विनोद को देखा। विनोद तो पिघलकर बर्फ से पानी बन गया, और उसको ऐसा लगा, जैसे ये सब ताने कसने जा रही हैं। वह बोल उठा—"आप लोग क्या मजाक़ कर रही हैं।"

सन्ध्या ने बातों का क्रम पुनः शुरू किया। बोली—"विनोद बाबू, क्या आप किसी निर्दोष बाला को आश्रय नहीं दे सकते, जब कि आपके पास रहने का स्थान है, और आर्थिक चिन्ता आपको करनी नहीं है ? इस विषय में मैं भी आपको सहायता दूँगी। यह कहानी, जो मैं कह रही हूँ, वह एक बेबस, निरपराध लड़की की है, जो तुम्हारे सामने शायद आँसुओं की झड़ी लगाये बैठी है। उसकी आँखों में झाँको, उसके रूप और भोलेपन को देखो। और, फिर देखो एक बार अपने समाज को, जिसने इस बेचारी को सड़क पर पड़ी कंकरी की तरह फेंक दिया। कभी इसके पास बँगले थे, मोटरें थीं—एक-दो नहीं, चार-चार, और ईश्वर का दिया सब कुछ था; पर आज यह समाज के जुल्म का शिकार बन रही है। कोई आश्रय इसको नहीं मिल रहा है। क्या तुम्हारे हृदय में इस बेचारी के लिये कुछ जगह है ? यदि है, तो आज तुम उर-विशालता का परिचय दो।"

विनोद मन में उछल पड़ा, परन्तु बाहर लापरवाही के साथ बोला—"यह कौन-सी बड़ी बात है। और फिर यह घर तो आपका ही है। इसमें मुझे बिलकुल एतराज नहीं है। बस, यही कहना था ? वाह ! क्या खूब कहा। खैर,...अरे ! इतनी मामूली-सी बात !" यह कहकर वह मुस्कराया, जैसे वास्तव में यह बात उसके लिये बहुत मामूली थी, परन्तु अन्तःस्थल में घुड़दौड़-सी मची थी। फिर एक बार निस्तब्धता छाई रही। विनोद ने इसे भंग किया, और बोला—"तो इनका सामान वगैरा कहाँ है ?"

संध्या ने विरक्ति से कहा—"यह बेचारी खुद ही समाज पर बोझ हो रही हैं। सामान से क्या और बोझ होंगी ?"

"अच्छा-अच्छा, ठीक है।" कहते हुए विनोद अपनी नासमझी प्रकट करने लगा। ऊषा ने एक बार उसको प्यार से देखा। संध्या से यह छिपा न रहा, वह ऊषा की आँखों में मुस्करा उठी। ऊषा भी शरमा गई। और फिर उसको छोड़कर संध्या वहाँ से चली गई।

ऊषा कमरे में अब अकेली रह गई। विनोद संध्या को कुछ दूर पहुँचाकर लौट आया।

ऊषा के कमरे में वह बहुत शीघ्र जाना चाहता था। कुछ देर तक वह ऊषा को दरवाजे के पास से छिपकर देखता रहा।

केशों की सुनहरी लटें पवन में हिलोरें ले रही थीं, और शांत मुद्रा से एक अजीब मीठा-मीठा रस-सा टपक रहा था। अधर कुछ शुष्क हो रहे थे। आकृति अत्यंत गम्भीर थी। कभी-कभी वह कुछ सोच-सोचकर मुस्कराने की ओर बढ़ जाती, परन्तु बहुत शीघ्र पुनः वापस चली आती थी। फिर कुछ सोच में पड़ गई, और मस्तक पर गम्भीरता की लकीरें खींचते हुए वह उन लकीरों की पगडंडियों पर पता नहीं किस अनजान प्रदेश में कुछ काल के लिये डूब गई।

विनोद मनोविज्ञान के विश्लेषण द्वारा उसकी आँखों में से उसके विचार खोजने लगा। एकाएक मुस्कराहट ऊषा के होठों पर हँस पड़ी, और विनोद घबरा गया। उसने कुछ देर

के लिये विचार किया कि वह यों ही इस चन्द्र-सुधा-रस की बूँदें कुछ देर और पीता रहे, परन्तु मन ने ऊधम मचाया, और बरबस उसके पैर आगे की ओर बढ़ चले। कक्ष में किसी के आने की आहट मिली। ऊषा अपने को सँभालते हुए बैठ गई। संकोच और लज्जा के मारे वह गड़ी जा रही थी। यह उसका पहला अवसर था, जब वह एकान्त में किसी पुरुष से मिले। उसके हृदय में तूफ़ान-सा उठ खड़ा हुआ। उसे कहीं भी आश्रय न मिल सका। दुःख में अपना कोई भी नहीं होता। संध्या भी मुझसे अलग हो गई। संसार कितना स्वार्थी है। वह खो गई। दीपक ने भी शायद मेरे ही डर से उसकी बात उस दिन नहीं मानी थी। इस समय जो भी उसे अपनाये, वही तो उसका होगा। उसके हृदय ने आत्मसमर्पण कर दिया, और उसने तय कर लिया कि वह विनोद से कभी भी अलग न हो सकेगी। विनोद की ख़ुशी ही में वह अपनी ख़ुशी समझती रहेगी।

विनोद सहानुभूति प्रकट करते हुए बोल पड़ा—"आपकी कहानी तो बहुत शोक-पूर्ण है, परन्तु अब आपको कोई भी परेशान न कर सकेगा। मेरे पास अबला की रक्षा करने के लिये बहुत बल है।" यह कहते हुए वह कुछ मुस्कराया, और अपनी प्रशंसा सुनने के लिये ऊषा का मुँह देखने लगा।

ऊषा ने भी टूटे-फूटे शब्दों में कहना प्रारम्भ कर दिया—"आपने यही क्या कम किया, जो मुझे आश्रय दिया।" इतना कहकर

उसने एक बार विनोद को देखा, परन्तु दूसरे ही क्षण उसने अपनी आँखें फेर लीं। उसके हृत्पटल पर दीपक की स्मृति नाच गई। वह घबरा उठी। वह कहीं भाग जाना चाहती थी, परन्तु विवश थी। उसको दीपक के सम्पर्क से कुछ-कुछ प्रेम सा हो चला। वह अब अत्यंत गम्भीर हो उठी, और खड़ी हो गई। सामने की खिड़की से दीपक का घर साफ़ दिखाई दे रहा था, पर बीच में भयभीत कर रहा था लम्बा आकाश। वह पीछे घूम पड़ी, देखा तो विनोद उसी की ओर देख रहा है। वह कुछ और घबरा गई। मन में विनोद के प्रति भाव अच्छे नहीं उठे।

विनोद इस घबराहट को समझ गया, और बाहर की ओर चल पड़ा। दो क़दम चलकर ठिठक गया, और सोचने लगा कि ऊषा से बता दूँ कि मैं बाहर जा रहा हूँ। वापस आ गया, और ऊषा की ओर मुख करके उसने कहा—"मैं ज़रा बाहर जा रहा हूँ, थोड़ी देर में आ जाऊँगा।" यह कहता हुआ वह बाहर निकल गया।

ऊषा को अब अपना भविष्य निर्णय करने का पूर्ण अवसर मिल गया। कक्ष में पूर्ण शांति छाई थी। उसने अपना अन्तिम निर्णय यही किया कि वह विनोद से यथासम्भव कम बोलेगी। पता नहीं, वह किस स्वभाव के हैं। और फिर वह आगे बढ़ी।

सामने की खूँटी पर वीणा झूल रही थी। पवन के झकोरों से

कुछ तार अपने आप ही गुनगुना उठते थे। नीरव कक्ष में थोड़ी-सी आवाज भी गूँज जाया करती थी।

सन्ध्या का समय था। निस्तब्धता छाई हुई थी। कभी-कभी पक्षी चहचहाते हुए छत पर से निकल जाते थे, परन्तु उन ग़रीब पक्षियों की आवाज़ उस पक्के मकान के अन्दर तक कैसे पहुँच पाती? ऊषा वीणा से खेल रही थी। पूर्वी राग ने कक्ष में गम्भीरता की फूँक मार दी। जान पड़ता था कि ऊषा के हृदय के सारे तार बज रहे हैं। ऊषा अन्तर्वेदना से फूट-फूट-कर रोने लगी। उन तारों में उसकी आवाज़ समा गई थी। केशों की लटें झूम उठीं। ऊषा का हृदय हलका होने लगा, पर आँसुओं में बाढ़-सी आ गई। वह आज अपने को न रोक सकी। मा की याद उसे एकदम आ गई। वीणा अब की बार रो उठी। तीव्र और कोमल स्वरों का इतना हृदय-विदारक संयोग! कमरे में ध्वनि आकाश में बादल की तरह छा गई। जान पड़ा कि वह कह रही है—"मा, मा! तुम कहाँ हो? मुझको संसार में अकेला छोड़ दिया। तुम्हारी बच्ची तुम्हारे लिये रो रही है! क्या तुम्हें उसकी आवाज़ सुनाई नहीं पड़ती? मा! इतनी कठोर मत बनो!" कक्ष में सारी पुस्तकें, दीवालें, कुर्सियाँ, सब जैसे रो रही हों। ऊषा की मा की याद ने सबको रुला दिया। आँधी बड़े वेग से चल पड़ी। बादलों की कड़कड़ाहट से बिजली झाँक गई। फिर वही निस्तब्धता। समय कुछ अधिक होने से अन्धकार हो चला था। आँसू के दो बूँद वीणा के तारों पर

गिर पड़े, और उन तारों के सहारे सरकते हुए वे उस ओर चल पड़े, जिस ओर से उन्हें वीणा की स्पष्ट ध्वनि सुनाई पड़ी। वीणा फिर कराह उठी—"पवनदेव! जाओ, और मेरी मा से मेरा सन्देश कह दो कि तुम्हारी वह लाड़ली बच्ची तुमको कभी नहीं भूलेगी। कहीं ऐसा न हो कि साँस टूट जाने के बाद ही मा को पता चले।"

वीणा एक बार और रो उठी, और ऊषा की उँगलियाँ तारों पर दौड़-दौड़कर, कहीं लहरा-लहराकर विश्राम करतीं, और फिर चल पड़तीं एक ओर। ऊषा के हृदय में तूफान-सा उठ रहा था। उसके अंग-अंग शिथिल पड़ने लगे। उँगलियाँ ढीली पड़ने लगीं, और फिर उसका हाथ झनाक से वीणा के ऊपर गिरकर लटक गया। ऊषा अपने हृदय के तूफ़ान को न रोक सकी, और घबराकर उसने मुँह ढाँपकर रोना शुरू कर दिया। आँसुओं का वेग बढ़ता चला जा रहा था। पैर समेटकर बैठे हुए, वीणा को अंक में धारण किये, आँसू बहाती हुई वह एक अत्यंत मधुर व्यक्तित्व अभिव्यक्त कर रही थी।

विनोद लौटकर वापस आ गया। वह सब कुछ बहुत पहले से देख रहा था। वीणा का रुदन तथा ऊषा के आँसू उसके हृदय में हिलोरें ले रहे थे। ऊषा यदि उससे शादी करने पर तैयार हो जाय, तो क्या ही अच्छा हो, परन्तु यह सब कैसे होगा? वह घबरा-सा गया, और अपनी ख़ुशक़िस्मती पर मुस्कराता रहा, परंतु यह मुस्कराहट भी क्षण मात्र की थी।

वह भूल चुका था कि वह खड़ा-खड़ा दो क्षण पहले खूब रो चुका है। उसके कपोल पर आँसुओं की टेढ़ी-मेढ़ी धाराएँ बनी थीं। अजीब सूरत बनाये वह ऊषा के पास गया।

"ऊषा !" कमरे में शब्द गूँज गया।

ऊषा अभी तक रो रही थी। उसने मुड़कर देखा। कुछ सकुच भी हुई, परन्तु वह रोती ही रह गई। जिस प्रकार नववधू का पति से संयोग हो जाने के बाद वह उससे घूँघट नहीं काढ़ती, ऊषा ने भी वैसा ही किया। संकोच को छोड़ उसने हृदय का नग्न रूप विनोद के आगे खोल दिया।

विनोद ने यह अवसर जाने न दिया। वह समवेदना के झरोखे से प्रेम-मन्दिर में प्रवेश करने लगा, और उसकी इस भावना का असर ऊषा पर जादू-सा हुआ।

वह ऊषा के समीप बैठ गया। कुछ देर तक उसका हृदय शोक तथा कौतूहल से भरा रहा। उसके पश्चात् उसने साहस बटोरकर ऊषा की ओर अपना हाथ बढ़ाया।

ऊषा के सुनहले केश पवन के मीठे-मीठे झकोरों से हिल उठते थे। विनोद ने अपना हाथ आगे बढ़ाया, तथा धीरे-धीरे उसके बालों को एक-एक करके छूने लगा। ऊषा को अब तक पता न था, परंतु अब विनोद ने उसके सारे बालों का स्पर्श एक बार में किया। उसने अपना हाथ ऊषा के सिर पर रखकर उठा लिया, और फिर दो क्षण उसके मुख की ओर निहारता रहा—शायद अपने इस क़दम का असर ऊषा पर जानने के लिये।

ऊषा के सारे शरीर में गुदगुदी दौड़ गई। रोमांच हो आया, परंतु वह कुछ भी न बोली। आँखों से अश्रु-धारायें बहनी बंद हो गई थीं। वह चुपचाप बैठी रही। विनोद की हिम्मत और बढ़ी। उसने अपना हाथ ऊषा के सिर से हटाकर, अपनी जेब से रेशमी रूमाल निकालकर उसकी ओर हाथ बढ़ाया। वह अब भी कुछ न बोली। विनोद का साहस बढ़ा, परंतु इतना नहीं कि वह बेधड़क उसके आँसुओं को अपने रूमाल से पोछ लेता। उसके हाथ कुछ काँपने लगे। ऊषा ने रूमाल देखकर अपने आँचल से ही अपने आँसू पोछ डाले। स्त्री-सुलभ लज्जा ही इसका कारण हो सकती थी। परंतु विनोद को इससे निराशा तथा थोड़ा दुःख भी हुआ।

"ऊषा !" एक बार फिर कमरे में आवाज़ गूँज गई। ऊषा ने अब की बार अपने को विनोद को सौंप दिया। विनोद के हृदय-मंडल पर उसका चंद्रमुख लोटने लगा। उसने भी अपने कपोलों तथा मुख को उसके सिर पर रख दिया। प्रेम का प्रथम अंकुर लहलहा उठा।

दूसरे दिन प्रातःकाल विनोद कुछ मग्न-सा होकर पियानो पर झूम रहा था। ऊषा उसके पीछे खड़ी होकर सुन रही थी। एकाएक उसके हाथ विनोद के कंधे पर गिर गए। उसने अपने हाथ जल्दी से उठाने चाहे, परंतु विनोद ने उन्हें पीछे से पकड़ लिया, और उसे खींचकर अपने अंक-पाश में कस लिया। ऊषा ने छुड़ाना चाहा, परंतु वह स्वयं ही

प्रेम-पाश में बँध चुकी थी। ऊपर के प्रयत्न से होता ही क्या है?

झेंप मिटाने के लिये ऊषा ने कहा—"पियानो तो आप बहुत अच्छा बजाते हैं!" इतना कहकर वह प्रसन्नता से बिनोद की ओर देखने लगी।

विनोद ने इसका उत्तर एक ऊपर की फीकी-सी मुस्कराहट से दिया, परंतु उसके अंतःस्थल में ऊषा के लिये प्रेम नाच रहा था। उसका हृदय खिल-खिलाकर हँस रहा था।

एक दिन शाम को दोनो गोमती की ओर टहलने चले गए। नदी के उस पार तक कुछ भी दिखलाई नहीं पड़ता था। सूर्य ऊषा को देखकर मुस्करा उठा। परंतु क्यों?—यह वह समझ न सकी। शायद वह लहलहाती हुई ऊषा को देखकर हँसा। उसकी मुस्कराहट में कितना व्यंग्य था? पवन झकोरों में झूम चला, हरी पत्तियाँ नाचने लगीं, और गोमती की चंचल लहरें झूम-झूमकर आगे बढ़ने लगीं। दोनो नदी के किनारे बैठकर तरंगों से खेलने लगे।

विनोद के अधर फड़क उठे, सारे वातावरण की निस्तब्धता भंग हुई।

"आज मैंने एक स्वप्न देखा है, ऊषा!"

"दिन में कि रात में?" वह मुस्करा उठी।

दोनो हँस पड़े।

"नहीं, रात में ऊषा!"

"क्या ?" ऊषा के होंठ कुछ उत्सुकता से हिल उठे।

विनोद भावनाओं में डूब गया, और फिर डूबता-उतराता हुआ बोला—"यही कि हम और तुम......" इतना कह वह थोड़ा रुक गया, और फिर बोलना शुरू किया।

बात काटते हुए ऊषा ने पूछा—"तो क्या आपने मेरे बारे में भी स्वप्न देखा था ?"

"हाँ, ऊषा !" वह लंबी साँस लेते हुए मुस्कराकर बोला।

"क्या देखा ? कहिए !" संकोच छोड़कर ऊषा ने विनोद से कहा।

"यही कि हम और तुम जाड़े की ठंडी रात में, चाँदनी की बरसात में, एक पास बैठे हुए हैं।" इतना कहकर वह फिर रुक गया।

"फिर ?"

"फिर एक नाव आई, और हम-तुम उस पर बैठकर उसे खेते हुए चले जा रहे हैं। वह नाव चमेली के फूलों से लदी हुई है। उसी चमेली की पुष्प-शय्या पर हम-तुम लहरों से खेलते चले जा रहे थे।"

"तो अब मैं समझी, आप कवि भी हैं। अच्छा, तो कविजी महाराज ! आपने और क्या देखा ?" मुस्कराते तथा हाथों से पानी उछालते हुए उसने कहा।

विनोद मुस्करा उठा।

वापस आने के बाद विनोद ने देखा कि सन्ध्या बहुत बन-

ठनकर उसके यहाँ आई है। वह कुछ सोच न पाया कि वह क्या करे। उसने सोचा—शायद सन्ध्या अपने मन में कहेगी कि ऊषा को विनोद के साथ रहते हुए अभी दो दिन भी नहीं हुए, और घुल-मिलकर बातें शुरू हो गईं।

सन्ध्या के लिये ऐसा सोचना स्वाभाविक भी था, परन्तु उसे तो बहुत हार्दिक ख़ुशी हुई।

इसी प्रकार तीन-चार महीने बीत गए। सन्ध्या विनोद के यहाँ प्रायः आया करती थी, और वे तीनों कभी-कभी सुबह-शाम टहलने भी चले जाया करते थे। रात्रि में नाव पर सैर-सपाटे, सिनेमा देखना तथा हज़रतगंज में घूमना और ऐसे अन्य कार्य इन लोगों ने करने शुरू किए।

---

[८]

शहर में नाटक खेला जा रहा था। सरसराती हुई कार पर सन्ध्या चली जा रही थी—शायद विनोद के घर की ओर। कार फिसलती हुई विनोद के घर पर जा रुकी। ऊषा, विनोद, दोनो बाहर आ गए। सन्ध्या ने विनोद से सप्रेम नमस्ते किया, और वह अपने प्रस्ताव को रखने के लिये उतावली-सी होने लगी। अन्त में ऊषा ने कह डाला—"दीदी ! आज कहाँ चलने का विचार है ?"

सन्ध्या वक्र मुस्कान के साथ बोली—"मेरा क्या विचार है ? शायद आप लोगों का हो ?—नाटक-वाटक देखने का। तो बस याद दिलाने आई हूँ।" कुछ देर में ऊषा :तथा विनो द सज-धजकर आ गये।

ऊषा हरे रंग के रेशमी सलवार में झूम-सी रही थी। गले में एक मोती की श्वेत माला पड़ी थी, जो उसके तेजोमय चन्द्रमुख को एक अजीब-सी झलक दे रही थी। पता नहीं, रास्ते में कितनों ने अपने हृदय-कोष को उसके लिये खाली कर डाला होगा। सन्ध्या भी आसमानी रंग की साड़ी पहने

अति शोभायमान हो रही थी, और विनोद भी अप-टु-डेट ऑर्डर सब कुछ पहनकर निकल पड़ा। कार दरवाजा छोड़ चल पड़ी एक ओर—दूर पर रंगबिरंगी बिजलियों की मालाएँ दिखाई पड़ीं। कुछ शोर भी उसी ओर हो रहा था।

कार एकाएक रुक गई। सन्ध्या ने तीन टिकट खरीदे, और अगले कोचों पर सबके साथ बैठ गई। दो सीट छोड़-कर उसी पंक्ति में दीपक भी बैठा था, पर उसने इनमें से किसी को भी न देखा। खेल शुरू हो गया, और कुछ देर बाद मध्यांतर की घंटी बजी। दीपक उठकर गेट की ओर चला। और बाहर जाकर उसने एक सिगरेट जलाई। सिगरेट का धुआँ वृत्ताकार होकर गगन-मण्डल की ओर चल पड़ा। सिग-रेट हाथ में लिये हुए वह फिर भीतर आया।

इधर सन्ध्या ने चाय का ऑर्डर दिया था। चाय का सेट केक के साथ आ चुका था। सन्ध्या ने शकर छोड़ते हुए कहा—"विनोद बाबू, आपको शकर और चाहिए?" इतना कहकर वह प्याला आगे बढ़ाने लगी। विनोद ने उसकी ओर थोड़ा झुककर प्याले को ले लिया। प्याला लेते समय दोनो के सिर टकरा गये। ऊषा हँस पड़ी, और सन्ध्या कुछ लजा-सी गई।

दीपक खड़ा-खड़ा सब कुछ देखता रहा। वह कुछ रोष में आकर आगे बढ़ा, और सन्ध्या के सामने जाकर खड़ा हो गया। विनोद ने उसको ईर्ष्या की आँखों से देखा, और ऊषा ने भी नाक-

भौं सिकोड़ा, परन्तु सन्ध्या ख़ामोश रह गई। वह कुछ कहने ही जा रही थी कि दीपक ने तुरन्त मुँह फेर लिया, और तीर के सदृश वह निकल गया। उसका जाना क्या था, सन्ध्या के हृदय पर बिजली गिरना! उसके बाद संध्या, लापरवाही के साथ चित्र की ओर देखती रही। परन्तु उसकी दृष्टि चित्र-पटल को भेदकर बहुत दूर क्षितिज के पार तक शायद चली गई थी। ऊषा ने कहा—"उधर देखो दीदी, उस लड़के का विरहाकुल विलाप देखो।" सन्ध्या की सारी नसें ढीली हो चुकी थीं। उसका जी थर-थर काँप रहा था, पर वह एक बार मुस्करा पड़ी—"हाँ बहन! देख रही हूँ। उसका विलाप देख रही हूँ।"

घर वापस आने पर सन्ध्या दौड़ती-भागती हुई स्टडी रूम में गई, और पियानो पर हाथ रखकर वह नीचे स्टूल पर बैठ गई। पास ही मेज पर रेडियो रक्खा हुआ था। उसने स्विच ऑन करके मीटर की सुई को कुछ देर तक खिसकाया और फिर गूँज ऊठी ध्वनि—

रूठ गये, रूठ गये।

रूठ गये वह मुझसे क्या? यह सारा ज़माना रूठ गया।

रूठ गये, रूठ गये।

रूठ गये वह मुझसे क्या? ये सारा ज़माना रूठ गया;

हँसती थी कभी मैं, रोती हूँ अब, हाय! बनके मुक़द्दर फूट गया।

रूठ गये, रूठ गये।

सन्ध्या के हृदय से उसकी आवेग-पूर्ण भावनायें कलकल ध्वनि करती हुई आँसुओं के सोतों में बह चलीं। वह अहक-अहककर रोने लगी। वह अपना हृदय सँभालने की जितनी कोशिश करती थी, उतना ही उसका हृदय अपनी वेदना को बिखेर देता। आसुओं की बरसाती नदियाँ बह चलीं। उसने श्वास रोका। निस्तब्धता कमरे में छा गई।

दो पंक्तियाँ खतम होने के बाद वीणा ने उस दर्द की हाँ में हाँ मिलाया, और फिर वही गायन-क्रम शुरू हो गया। जान पड़ता था कि किसी नवविकसित कली के असमय कुचल जाने पर उसके वियोग-भरे स्वर फूटकर रो रहे हों। कमरा फिर गूँज गया गायन से—

"कश्ती है भवँर में नाच रही, माझी भी सहारा छोड़ चला;
अब किसको फ़िकर है जीवन की, जब जीवन मुझसे रूठ चला।
रूठ गये, रूठ गये।"

सन्ध्या के हृदय पर ये पंक्तियाँ छपती चली गईं। यह शायद उसकी ही आवाज़ रेडियो-स्टेशन से आ रही थी। उसके हृदय में आवेश आया कि सचमुच इस जीवन में उसके लिये कुछ भी नहीं था। स्त्री के जीवन में उसका जीवन-साथी ही उसका सारा साज-शृंगार है। वही न रहेगा अपना, तो उसके लिये मृत्यु के अंक को छोड़ और कहाँ आश्रय मिलेगा।

गायन का क्रम चलता रहा—

"रोती हूँ यहाँ मैं, हँसता है तू, होता है वही, किस्मत का लिखा।
ऐ हँसनेवाले चाँद तु जा, सूरत न अपनी हँसके दिखा।
जाती हूँ यहाँ से मैं भी अब, यह झूठा तमाशा कौन करे?
रूठ गये, रूठ गये।"

सन्ध्या के हृदय में क्षणिक आवेश आया कि वह आत्महत्या कर ले, परंतु यह कार्य पीछे भी किया जा सकता था। और फिर ऊषा का भविष्य? दोनो समस्याएँ जटिल थीं। उसने रेडियो का स्विच ऑफ़ कर दिया। कमरे में पुनः निस्तब्धता छा गई। आँसुओं की धारायें खरखर-खरखर बह चलीं। सन्ध्या ने अपना मुख अंचल से ढाँप लिया। गीला अंचल उरोजों से चिपक गया।

वह उठ खड़ी हुई। चल पड़ी एक ओर—शायद दीपक का घर उसी तरफ था। उसके हृदय के तूफ़ानों ने उसे झकझोर दिया। वह अधीर हो उठी, और शीघ्रता से पहुँची दीपक के घर। दरवाज़े पर ताला पड़ा हुआ था। सन्ध्या अपने समय में भी निराश होकर वापस जाने लगी। परंतु सामने से दीपक आ गया। वह सन्ध्या को देखकर ठिठक गया, और फिर बेरपवाही से ताला खोल अन्दर चला गया। उसने आज सन्ध्या का कोई स्वागत न किया। सन्ध्या को अपनी दशा पर रुलाई आ रही थी, परतु समय रोने का न था। फिर वह थी वीरांगना।

उसने साहस बटोरकर बुलाया—'दीपक बाबू! दीपक बाबू!"

दीपक पलट पड़ा। बोला—"क्या कहना चाहती हो, और किससे मिलने आई हो?"

सन्ध्या ने आँखों में आँसू भरकर करुणा से कहा—"मेरे तो संसार में बस आप ही हैं, और मैं किसी से क्यों कहने जाऊँ?"

दीपक कड़क उठा—"फ़ालतू बातें सुनने का हमारे पास समय नहीं है। जो कहना हो, साफ़-साफ़ कह दो।"

सन्ध्या बोल उठी—"मैंने आपसे कभी कुछ छिपाया है?"

दीपक कुछ पिघला—"पहले तो नहीं छिपाया था, परन्तु अब तुम पहलेवाली सन्ध्या हो कहाँ? अफ़सोस कि तुमने मेरे हृदय में से निकल भागने की बहुत देर में कोशिश की।"

सन्ध्या के अधर करुणा से लहरा उठे—"दीपक बाबू! आपने मुझे गलत समझा। बस, इसके सिवा मैं और कुछ कह नहीं सकती......।"

दीपक फिर गरज उठा—"मैं सुनने और समझने की जरूरत भी नहीं समझता। विनोद तुम्हें अच्छी तरह समझता होगा। उसके पास चली जाओ।" इतना कहकर दीपक ने मुख फेर लिया।

सन्ध्या उसके सामने जाकर खड़ी हो गई। उसने एक बार फिर साहस बटोरा, अधर फड़क उठे—"दीपक बाबू, आप जानते हैं, मैं ऊषा को सहेली नहीं, बल्कि सगी बहन की तरह मानती हूँ। मैं आज आपसे शादी करके सुखी हो सकती हूँ, परन्तु मेरी उस छोटी बहन का क्या होगा? उसके भविष्य

की चिंता कौन करेगा ? मुझको उसका भविष्य भी तो देखना है।" आवेश के साथ—"मैं उसको वचन दे चुकी हूँ कि मेरे रहते हुए उसे कभी कोई तकलीफ नहीं पहुँचेगी। जब तक ऊषा की शादी न हो जाय, मैं अपनी शादी कदापि न करूँगी।" इतना कहकर वह हाँफने लगी।

दीपक पर इस बात का बहुत थोड़ा असर हुआ। वह पुनः प्रश्न कर बैठा—"आजकल सुबह-शाम विनोद के साथ सैर-सपाटे का क्या मतलब है ? देखो सन्ध्या, तुम मुझे बेवक़ूफ़ बनाना चाहती हो। तुम चाहती हो कि ऊषा मुझसे शादी कर ले, और फिर तुम विनोद के साथ.........." सन्ध्या का मुख लाल हो गया। नेत्र रक्तवर्ण हो गये। नयनों से ज्वाला बरसने लगी। दीपक फिर जोर से कड़क उठा—"तुमने यह मुझे पहले ही क्यों न बता दिया ? ठीक है, दौलतवालों के खेल के लिये ही ग़रीब आदमी बनाये जाते हैं। लेकिन ग़रीब इंसान की जिन्दगी से खेलना तुमने कहाँ सीखा ? नहीं-नहीं, तुमको किसी ने सिखाया होगा—शायद उसी विनोद ने। मैं उस बदमाश को अभी देखता हूँ।" वह अपनी छुरी लेकर सन्ध्या के देखते-देखते कमरे से बाहर आ गया।

सन्ध्या ने जिस कार्य के लिये सब कुछ बरदाश्त किया, उसका वही कार्य बिगड़ा जा रहा था। वह वेदना से फूट पड़ी —"नहीं-नहीं दीपक ! तुम उसके पास मत जाओ, उसके पास तुम मत जाओ। मैं तुम्हारे पाँव पड़ती हूँ।" इतना कहकर वह

दीपक के चरणों से लिपट गई। उसके आँसू दीपक के पैरों पर छलक गये। परन्तु दीपक...

दीपक अंत में लापरवाही से बोल उठा--"मैं तो इसको पहले ही समझ गया था। जानता था, क्या कहोगी, और वही तुमने कहा भी। अब तुम जा सकती हो।" इतना कहकर, वह अपने पैर छुड़ाकर कमरे के अंदर चला गया, और भीतर से किवाड़ बंद कर लिये। मेज पर समाचार-पत्र रक्खा था। उसने हाथ लपकाया।

सन्ध्या चिल्लाई—"दीपक! दरवाजा खोलो।" कोई उत्तर न मिला। उसके हृदय ने दीपक की कल्पित मूर्ति से कहा—"देखो दीपक! तुमने हमारा आज अपमान किया है, और मैं जा रही हूँ, पर तुम पछताओगे। तुम आखिर में हमारे लिये तड़फ उठोगे, पर मैं तुमको न मिलूँगी। हैरान होकर तुम मुझको ढूँढ़ोगे, पागल हो जाओगे, पर न पाओगे हमें। हमारे ये आखिरी शब्द तुम्हारे हृदय में चिल्लाया करेंगे, और तुम्हें कभी शांति न होगी।"

उसके पैर डगमगाते हुए आगे बढ़ चले।

---

[९]

प्रातःकाल ऊषा झूम-झूमकर नाच रही थी। उसके कपोलों पर मधुर लाली छाई हुई थी। शिशु राकेश ऊषा के लाल अंचल से झाँक रहा था। इधर-उधर बदली छाई थी, परन्तु बहुधा आकाश निर्मल, स्वच्छ था। नीलाम्बर में मुस्करा रहा था। ऊषा विनोद के साथ इठला-इठलाकर खेल रही थी। सामने एक तसवीर टँगी थी—शायद किसी सुन्दरी स्त्री की। ऊषा का ध्यान आकर्षित हुआ। वह गौर से देखने लगी, और देखते-देखते एकाएक परेशान-सी हो गई। वह तुरन्त फूट पड़ी—"यह कौन है विनोद? किसकी तसवीर है?" विनोद घबड़ा गया। उसकी आँखों में कालिमा-सी आ गई। वही कालिमा, जो चोर के चोरी करते समय पकड़ जाने पर पाई जाती है। ऊषा ने कुछ हद तक उसे भाँपा भी, परन्तु अधिक देर तक वह रुक न सकी। उसने पुनः प्रश्न किया—"बताते क्यों नहीं विनोद, कौन है यह?" विनोद को सोचने का बिलकुल समय न मिल सका। उसने बनावटी मुस्कराहट से समय निकाल लिया, और फिर बोला—"यह हमारे एक दूर

के रिश्तेदार की बहन की तसवीर है। वह हमारे यहाँ एक बार आई थीं, और उन्होंने अपने चार-पाँच फोटो खिंचाए। यह एक यहाँ जबरदस्ती लगाकर छोड़ गई थीं। लेकिन इससे तुमको क्या ? तुम बहुत परेशान मालूम होती हो ?"

भोली ऊषा का भ्रम दूर हो गया, केवल विनोद की विनोद-पूर्ण मुस्कराहट-मात्र से ही। वह फिर अपने गीतों और खेलों में मस्त हो गई।

बाहर कार का हॉर्न सुनाई पड़ा। सन्ध्या भीतर आई। आज सन्ध्या शांत और बहुत गम्भीर थी—सागर-सी। ऊषा ने उसे हँसाने का बहुधा प्रयत्न किया, परन्तु वह न हँसी। उसके अधरों की मुस्कराहट तो एक दिन पहले ही छिन चुकी थी। हँसती, तो कैसे ?

कमरे में पूर्ण निस्तब्धता छाई रही। सन्ध्या शांत थी। विनोद कभी ऊषा का मुख देखता, कभी सन्ध्या का। ऊषा भी चुपचाप उसके मौन में शामिल हो गई। एकाएक उसके होंठ हिले। ऊषा ने अपना श्वास स्थगित कर उसे सुनना चाहा। विनोद भी गम्भीरता में खो गया। आवाज कमरे में तरंग बनकर छा गई—"ऊषा ! मुझे तुम्हारे भविष्य की बहुत चिन्ता है। अपने को किसी के हाथों सौंपने के पहले मैं चाहती हूँ कि तुम्हारी बेपतवार की नाव का कोई माझी मिल जाय। विनोद बाबू तुमसे प्यार करते हैं, और तुम भी उनको चाहती हो। मैं चाहती हूँ कि तुम दोनो जल्दी विवाह के पुष्प-बन्धन में

बँध जाओ। मैं जीवन में सबसे अधिक तभी खुश भी होऊँगी, जब मैं तुमको दुल्हन बनते और डोली में बैठती देखूँगी। तुम दोनों को कुछ कहना तो नहीं है?" ऊषा कुछ न बोली, परन्तु विनोद ने तुरन्त प्रश्न किया—"सन्ध्या, आज तुम आवश्यकता से अधिक गम्भीर दिखलाई पड़ रही हो, क्या बात है? इस उदासी का कारण? और, हमारी शादी की बात में अभी जल्दी ही क्या है? रहने दो, मैं बी० ए० पास कर लूँ। सब ठीक हो जायगा।"

ऊषा हृदय में आत्मविभोर हो उठी। सन्ध्या उसकी कितनी हितैषी है, यह बात सन्ध्या के एक-एक शब्द से प्रकट हो रहा था।

सन्ध्या ने कुछ कड़ापन का रुख लेते हुए कहा—'मेरे पास कोई बात करने का समय नहीं है। तुम लोग अभी शादी कर डालो। मैं ही पंडित बन जाऊँगी। मेरे सामने तुम दोनों का पाणिग्रहण होगा। उसके बाद तुम लोग जब जी चाहे, समाज के आगे खुल्लमखुल्ला शादी कर लेना। विनोद ने कुछ देर तक सोचा। शायद वह इसी उलझन में पड़ गया था कि ऐसा न हो कि पिताजी या घरवाले जान जायँ, वर्ना जान आफ़त में आ जायगी। लेकिन और तो कोई है नहीं, केवल सन्ध्या है, सो वह क्या करेगी? उसकी भी शादी होनेवाली है। चली जायगी अपने घर, फिर कौन पूछता है? ये सब बातें सोच-विचारकर उसने उत्तर दिया—"सन्ध्या, मैं ऊषा को चाहता

हूँ, यह तो तुम जानती ही हो, और मैं उसको संसार में और किसी की नहीं होने दूँगा। ऊषा मेरी ही होकर रहेगी। परन्तु इस नाटक से क्या फ़ायदा ? और वैसे हृदय की एकता हो जाने का ही नाम विवाह है, सो हो चुका है। और फिर यदि तुम्हारी उदासी का कारण यही है, तो मैं हर तरह से तुम्हारी बात मानने के लिये तैयार हूँ। होने दो यह भी खेल।"

सन्ध्या कुछ मुस्कराई, तथा ऊषा का हृदय मोर बनकर प्रेम-परिणयरूपी सुख के मँडराते हुए बादल को देखकर नाचने लगा। उसके मन में उमंगें आईं। उसके मन में उत्साह उठा। उसके मन ने कहा कि वह इस समय खूब नाचे-गाए और साथ में दो आँसू ख़ुशी के भी बहाए, परन्तु वही लज्जा ! नारी का आभूषण। उसको धारण करने के बाद हृदय की बहुत भावनायें हृदय में ही नाच-गाकर रह जाती हैं। उनका प्रभाव बाह्य आकृति पर नहीं आने पाता।

सन्ध्या ने दोनों का पाणिग्रहण कराया। ऊषा ने सिन्दूर भी धारण किया। आज उसकी छटा अंग-अंग से टपक रही थी, आज उसकी ख़ुशी की पूर्णिमा थी। ऊषा के चन्द्रमुख पर सुषमा हिलोरें ले रही थी। उस पर मधुर हास्य का भाव था। जान पड़ता था कि किसी कुंज में वृक्षावलियों से सजाई हुई एक सरिता कलकल ध्वनि करती हुई लहरों में मंद गति से मँडरा रही है। आकाश का चाँद उसी सरोवर में से झाँक रहा हो।

ऊपर से लाल रंग की चिड़ियाँ उड़ गई हों, और सुंदरी के सिर पर सिंदूर की धारा-सी बना गई हों। वृक्ष जल में से झाँक रहे हों। और ऊषा का तो कहना ही क्या। विनोद भी खुश ही था। उसकी मुस्कराहट से उसकी आभा टपक रही थी, जैसे वह सचमुच खेल कर रहा हो। परंतु सन्ध्या बहुत खुश नहीं थी, वह गम्भीर थी। गम्भीर रही। आज सन्ध्या की एक चिंता दूर हो गई। उसने अपना कर्तव्य पूरा कर लिया—एक नारी का एक नारी के प्रति जो होता है। वह खुश थी, पर दीपक की बातें ·······

यह शादी भी एक अजीब थी। सन्ध्या अपने घर चली गई। आज उसने संतोष की एक दीर्घ श्वास खींची। ऊषा शृंगार कर नवविकसित गुलाब की तरह खिली हुई थी। आज उसकी खुशी का ठिकाना न था। बरबस मुस्करा रही थी। उसकी मुस्कराहट में कितना सौन्दर्य टपक रहा था, यह वहाँ की मौन दीवारें, खिड़कियाँ, किताबें तथा अन्य सब वस्तुयें देख रही थीं। वायु झूम चली, किताबों के पन्ने नाचने लगे, और तबले का नाद उनसे प्रस्फुटित होने लगा।

रोज की ऊषा आज वहाँ न थी। आज वहाँ एक दुलहन बैठी थी। घूँघटवाली दुलहन! विनोद ने मुस्कराकर कहा—"आज हमारी-तुम्हारी पहली मुलाक़ात है। भौंरा कली के चारो ओर मँडरा मँडराकर कितनी बार वापस चला गया, परंतु आज खुशी की चाँदनी में नलिनी अपने घूँघट को खोलेगी,

और भँवरा अपने को सहर्ष उसमें क़ैद कर लेगा। मेरी नलिनी पंखुड़ियों में से क्या सोच रही है ?" उसने प्रश्न किया।

वह जोर से हँसा, और ऊषा ने अपना घूँघट खोल दिया। विनोद ने उसे अपने मधुर अंक-पाश में कस लिया। दरवाज़े खड़के। स्वप्न टूटा। विनोद ने जाकर किवाड़ खोले। पोस्ट-मैन ने एक लिफ़ाफ़ा थमा दिया। विनोद उसे लेकर सामने की सड़क पर बढ़ गया, और बिजली के खंभे के सहारे खड़ा होकर पढ़ने लगा—

"प्रिय वत्स,

चिरंजीव रहो। बहुत दिनों से तुम्हारा पत्र नहीं आया। हम लोग बहुत चिंतित हैं। उधर तो तुम हफ़्ते में एकआध बार लापरवाही से डाल भी दिया करते थे, परंतु इधर तुम्हें न-जाने क्या हो गया। शायद पढ़ने में बहुत जी लग गया होगा। बेटा, अपनी तंदुरुस्ती का ख़याल रखना, और तुम्हें मेरी बताई हुई चौपाई भी याद होगी—

धन्य जन्म जगती तलतासू, पितहि प्रमोद चरित सुनि जासू।

रामायण का अध्ययन, यदि थोड़ा समय मिले तो, करते रहना। विशेष क्या लिखूँ। हाँ, देखो बेटा, पत्र लिखते रहा करो। तुम्हारी बहू तुम्हारे इस व्यवहार से बहुत दुखी है, और उसके दुःख से हम सब लोग भी दुखी हैं।

तुम्हारे शुभचिंतक पिता
रघुवरदयाल"

विनोद ने पत्र पढ़कर फाड़ दिया, जिसके टूटे हुए टुकड़े वृन्त से विच्छेद किए हुए पल्लवों की नाईं मँडरा-मँडराकर भूमि की ओर जाने लगे।

ऊषा को थोड़ी उत्सुकता हुई। थोड़ा नारी-प्रकृति ने बाध्य किया। वह आगे बढ़ चली, खिड़की की ओर। देखा, कोई नहीं। थोड़ी दूर पर खाकी थैला लटकाए वही चला जा रहा था, पोस्टमैन। बिजली की ओर से धीरे-धीरे क़दम रखता हुआ विनोद घर की ओर बढ़ चला। ऊषा ने उन टूटे हुए टुकड़ों को बेसहारे उड़ते हुए देखा। उसे उन पल्लवों की पुकार सुनाई पड़ी। उन टुकड़ों से उसे एक वेदना-पूर्ण हाहाकार सुनाई पड़ी। उसने किसी स्त्री की छाया उन टुकड़ों में से झाँकती हुई देखी, पर देखकर रह गई।

विनोद ऊषा के पास आ गया, और उसी प्रवाह में बह चला। ऊषा ने उत्सुकता से प्रश्न किया—"कोई पत्र आया था क्या ?"

विनोद ने भाँप लिया, पत्र को शायद ऊपर से देख लिया गया है। इससे उसने पत्र का आना न छिपाया, बोला—"देखो ऊषा, हाँ, वह था—एक हमारे मित्र का पत्र। मेरा बहुत घनिष्ठ मित्र था, और हम-वह बचपन से एक साथ खेले भी हैं।"

ऊषा की उत्सुकता खत्म हो गई। उसने अधिक जाँच-पड़ताल करना उचित न समझा।

विनोद चला गया। ऊषा आकर कमरे में बैठ गई। चुप-चाप बैठी थी। खाली हाथ बैठे उसे अच्छा न लगा, नारी-

प्रकृति के अनुसार उसने कमरे की सफाई करना शुरू कर दी। और तो कुछ नहीं, पर किताबें अवश्य बिखरी हुई थीं, उसने किताबों को सजा-सजाकर रख दिया। सबसे ऊपर की पुस्तक अच्छी मालूम हुई, उसने उसे उठाकर पढ़ना प्रारम्भ किया—

पुस्तक के ऊपर लिखा था 'उपहास !' दूसरे पेज में था—

'उपहार'

उसको, जिसने मुझको प्यार दिखाया, आज उसकी शादी हो गई, और वह संसार में झूम रही है। मेरा भटकना उसे क्या मालूम—काश वह..."

ऊषा ने एक पन्ना पलटा। एक कविता थी। उसने गा-गाकर पढ़ना शुरू किया—

खोजता तुमको यहाँ मैं, तुम न जाने हो कहाँ पर;
नींद में आते हैं पक्षी, हँस रहा ऊपर सुधाकर।
मैं प्रतीक्षा के पहर में सांध्यवेला तक अकेला;
हँस कभी लेता, कभी था सिसकियाँ भरता रहा।
चाँदनी रातें अँधेरी, लग रहा जीवन अँधेरा;
सो चुका मैं प्रेम में अब; हो न जाने कब सवेरा।
प्यार का मुखड़ा दिखा दो, अब चलूँ संसार से मैं;
नयन से आँसू बहा दो। मुस्करा कर लूँ विदा मैं।
मिल सके अब तक नहीं, अब अश्रु-बूँदें ही मिलेंगी;
नयन-गगरी से ढरककर अश्रु-सरिता ही मिलेगी।

ऊषा के आँसू बह चले। शायद वह अपने बारे में भी कुछ उसी प्रकार की शंका करने लगी। वह दुःख के अनंत गहरे सागर में डूब गई। कभी उतराती, कभी डूब जाती, पर उन शब्द-समूहों के सरोवर में वह किनारा नहीं पाती थी। कहीं मेरे बारे में भी ऐसा ही न हो? वह भय से काँप गई! ऊषा खड़ी हो गई। कमरे में घूमने लगी। नीचे देखा, कोई न था। कमरे में सामने दीवार पर देखा एक फ़ोटो—वही फ़ोटो! उसे साफ़ सुनाई पड़ा—ग़रीब लड़की, तुझे धोखा दिया जा रहा है। ये मँडरानेवाले भौंरे कली का रस चूसना ही जानते हैं। वे कलियों से स्नेह नहीं करते। रस चूस लेने के बाद वे तुझे खाए हुए गन्ने की तरह फेंक देंगे। वह फूटकर रो पड़ी। उसे मा की बीभत्स चीत्कार सुनाई पड़ी—"बेटी, तूने जो कुछ सुना है, वह सच है। प्रेम और विवाह में बड़ा अंतर है। तुझे वास्तव में न प्रेम मिला है, और न विवाह के लाल धागे। तू यहाँ से भाग जा। विनोद बड़ा ख़तरनाक आदमी है।"

ऊषा चिल्ला पड़ी—"नहीं मा, विनोद बाबू बहुत अच्छे हैं। वह ऐसा नहीं कर सकते—वह ऐसा नहीं कर सकते।" ऊषा हाँफने लगी—"वह ऐसा नहीं कर सकते—वह ऐसा कभी नहीं कर सकते।" वह रटती गई, हाँफती गई।

उसने खिड़की से एक बार फिर देखा, कोई न था। उसकी उत्सुकता बढ़ी। वह नीचे दौड़ गई, और क्षण-भर में उन काग़ज़ के टुकड़ों के साथ पुनः लौट आई। उसने सब टुकड़ों

को यथास्थान रखकर उन्हें जोड़ा, और फिर एक सरसरी निगाह से सारा पत्र देख गई। यह पत्र उनके मित्र का था, जो इनको बरस लिखता है! खैर, पढ़े-लिखे लोग, अँगरेजी आदमी! हो सकता है। परंतु यह तो निश्चय ही किसी और का है। मित्र ऐसा पत्र कभी नहीं लिखेगा। चौपाई भी लिखी हैं। उसने नीचे हस्ताक्षर देखा। देखकर वह अवाक् हो गई। धीमे स्वर में बोल उठी—"अरे, यह तो इनके पिताजी...! ....! तो वह मुझसे झूठ क्यों बोले? मरदों की बात का सचमुच कोई विश्वास नहीं होता।" ऊषा ने पत्र फिर से अक्षर-अक्षर पढ़ना शुरू किया। अंतिम दो पंक्तियाँ पढ़ते ही उसकी आँखों से खून टपक पड़ा। वह मूर्च्छित हो गई। विनोद की चालबाजी का उसे आज पता हो गया। विनोद के प्रति उसके हृदय में घृणा, क्रोध तथा प्रतिहिंसा की भावनाएँ जाग्रत् हो उठीं। उसने निर्णय कर लिया कि वह विनोद का साथ जल्द-से-जल्द छोड़ देगी। वह जल्दी-जल्दी किवाड़ों की ओर बढ़ चली। जाना ही चाहती थी कि विनोद आ गया। विनोद मुसकरा उठा। ऊषा की देह में आग लग गई। उसका सारा रोष बड़वानल की तरह भभक उठा, परंतु उसने उस लौ को सीधी आँच से विनोद को झुलसाना न चाहा। उसने दोनों हाथ जोड़कर कहा—"नमस्ते विनोद बाबू! मैं जा रही हूँ।"

विनोद घबरा गया। बोला—"क्यों मजाक करती हो। चलो,

अंदर चलो। कोई देख लेगा।" इतना कहकर उसने ऊषा का कंधा पकड़कर उसे भीतर करना चाहा, परंतु वह अब सहन न कर सकी। उसने गरजकर रोते हुए कहा—"विनोद बाबू, आप मेरे शरीर को मत छुइए, वर्ना अच्छा न होगा।" वह हाथ झिटकारकर अलग खड़ी हो गई। बोली—"मुझे मालूम न था कि आप इतने बड़े फरेबी और मक्कार हैं; पर अब आपकी नस-नस का पता हो गया। मैंने आपकी चिट्ठी पढ़ ली, सब हाल मालूम हो गया।" इतना कहकर वह हाँफने लगी।

विनोद काँप गया। भीतर ढकेलते हुए उसने कहा—'नाटक तो तुम अच्छा करोगी, पर यह समय नाटक करने का नहीं, बल्कि प्यार का एक मीठा राग गाने का है। जरा वीणा की वह धुन सुनाना, जो तुमने उस दिन......।"

ऊषा ने उसकी बातों की ओर ध्यान न दिया। वह वैसे ही रोती रही। बोल उठी—"छोड़ दो मुझे, छोड़ दो मुझे, नहीं तो मैं अभी...

विनोद ने कहा—"आखिर तुम्हें हो क्या गया है? झूठी बातों में आ जाती हो? वह तो एक मेरे दोस्त का पत्र था। वह बड़ा मजाक़िया है, कभी पिताजी का स्वाँग करता है, कभी मामा का, और कभी..."

ऊषा ने कहा—"बस, मैं अब कुछ नहीं सुनना चाहती। अभी, इसी समय यहाँ से जाऊँगी।" विनोद ने प्यार से उसका

कंधा पुनः पकड़ लिया, पर उसने अपना कंधा छुड़ा लिया। उसका शरीर काँप रहा था—क्रोध से।

विनोद ने उसे त्रास दिखाकर कहा—"देखो ऊषा, तुम आज पागल हो गई हो। पता नहीं, किस झक ने तुम्हें इस पागलपन पर आमादा किया है। तुम नहीं जा सकती हो। तुम हरगिज़ नहीं जा सकती हो।"

विनोद ने ऊषा को बल-पूर्वक गोद में उठा लिया, और भीतर की एक कोठरी में ले जाकर उसे बन्द कर दिया। ऊषा कमरे में बंदी हो गई। वह बेचारी उसी कालकोठरी में हुमस-हुमसकर रोती रही। एक खिड़की भी उसमें थी। धीरे-धीरे रात आ गई। विनोद ने बाहर से पुकारा—"ऊषा, अब तबियत ठीक हो गई हो, तो बाहर आ जाओ।" इतना कहकर वह साँकल खोलने लगा। ऊषा ने भीतर से सिटकिनी लगा दी। विनोद ने बहुतेरा कहा, परंतु वह चुपचाप कमरे में बैठी रही। अंत में वह निराश होकर चला गया। चाँदनी रात ने खिड़की की दरारों में से झाँका। ऊषा ने खिड़कियाँ खोल दीं, और खिड़की में बैठकर ठंडी चाँदनी रात में रोती रही। दूसरे दिन विनोद बाहर चला गया, और बाहर से ताला लगा गया। वह बेचारी हुमस-हुमसकर रोती रही......।

---

[१०]

घाघरा रात्रि के अङ्क में नींद की मीठी-मीठी हिलोरें ले रही थी। जाड़े की रात्रि! शरत् चाँदनी बरस रही थी। कभी-कभी शीत पवन का एक झकोरा आता और पुष्पा सिकुड़कर रह जाती। आज से तीन वर्ष पूर्व ये ही झकोरे प्रीतम के अङ्क में जादू किया करते थे। और इसी जादू में चाँदनी झूम-झूमकर गाया करती थी। इसमें से कभी कोकिला की कूक, तो कभी पपीहा की रट सुनाई पड़ती थी। घघरा-नदी के ऊपर वहाँ एक पुल बँधा था, उसी पुल से कभी-कभी मुरली हिलोरें लिया करती थी। आज पुष्पा वहीं बैठी थी। न कोई कूक, न कोई रट थी, न कोई कला, न कोई गीत था। कभी-कभी चाँदनी में एक-आध कछुए सिर निकाल-निकालकर डूब जाया करते थे। पुष्पा दोनों आँखों से आँसुओं की धाराएँ बहाती चली जा रही थी, कितना अथाह जल-संचय रहा होगा उस पर्वत-शृंग पर, जिससे निरंतर आज तीन वर्ष से बरसाती नदियाँ कलकल ध्वनि करती हुई उमड़ी चली जा रही थीं। पुल पर जाकर वह खड़ी हो गई। नदी की ओर दूर तक वह देख गई, कुछ दिखाई न पड़ा।

उसकी आँखें नदी के लम्बे अंधकार मय छोर से भी दूर पहुँच गईं—क्षितिज के पार। विचारों का एक बवंडर घूमने लगा, और उसी में पुष्पा आँसू की लटें बनाए परेशान होकर इधर-उधर देखने लगी। क्या मुझे वह भूल गए ?······इतनी जल्दी ! तीन वर्ष में जब से वह गए, उन्होंने एक पत्र भी मेरे बारे में न छोड़ा। पुष्पा को शादी के बादवाला पूरा महीना याद आ गया। वह पढ़ने भी बहुत कम जाया करते थे। मुझसे कितना स्नेह रखते थे। और, हम लोग इस पुल पर कभी-कभी रात में, चाँदनी रात में, एक दूसरे से सटकर खड़े हो जाते थे। ठंडक का नाम भी न रहता था। कभी-कभी चाँदनी में पेड़ की छाया के नीचे हम लोग छिप-छिपकर खेला करते थे। कितने सुनहरे दिन थे ! परंतु अब तो वह ऐसे हो गए, जैसे मुझे एक दम भूल गए !······

बीती हुई मिलन की रास-क्रीड़ाएँ उसकी विरह-चिता के लिये सामग्री तैयार करती थीं। क्या वह मुझसे रूठ गए ? फिर अब कभी नहीं मिलेंगे ? पुष्पा सिसक पड़ी। उससे संसार में समवेदना प्रकट करनेवाला कोई न था। वह रोती चली जा रही थी।

"वहाँ क्या कर रही हो भाभी ?" वातावरण गूँज गया।

पुष्पा ने अपने आँसू अंचल में पोंछ लिए। किशोर समीप आ गया, पुष्पा के समीप जाकर बैठ गया। बोला—"भाभी ! आज भी भैया का कोई पत्र नहीं आया ? पता नहीं, कैसे हैं

वह ? उनकी तबियत तो नहीं खराब है ?" किशोर के मुख से भोलापन बरस रहा था। पुष्पा चुपचाप सुनती रही। बोली—"किशोर, कलवाली कविता तुझे याद है ? मैंने सुबह लिखी थी। याद कर ली हो, तो सुनाओ।"

किशोर भोलेपन से फूट पड़ा—'भाभी, याद तो कर ली है, लेकिन यदि भूल जाऊँ, तो ?" पुष्पा ने उसके सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—"तो मैं अपने लाला को बता दूँगी, अच्छा !... अब गाओ... ।"

किशोर ने गा-गाकर सुनाना शुरू किया—

दीपक, तुम दो क्षण जले रहो, फिर जलकर चाहे बुझ जाना ;
तुम खड़े रहो, मैं आती हूँ, फिर मिलकर चाहे बुझ जाना।
जीवन में झंझावात कठिन रह-रहकर मुझे कँपाता है ;
तूफ़ान उठ रहा सागर में, मँझधार डूबता जाता है।
अपने जीवन का माँझी मैं, मँडरा मँडराकर आऊँगा ;
ऐ जलनेवाले दीप ! ठहर, मैं भी तुझमें जल जाऊँगा।
दो जलनेवाले मिल जाएँ, फिर चाहे जलकर बुझ जाना।
दीपक, तुम दो क्षण जले रहो।

पुष्पा अपने हृदय के वेग को अब न सँभाल सकी। वह फूटकर रो पड़ी, और सिसकती हुई बोली—"लाला, तुम जाओ, सो जाओ। मैं अभी आती हूँ।"

पुष्पा की बात का असर उस पर न हुआ। बोला—'न भाभी, मैं तो तुम्हें लेकर चलूँगा। मुझे अकेले डर लगता है।

मैं अकेले न आऊँगा।" और पुष्पा को बाल-हठ के आगे समर्पण करना ही पड़ा।

पुष्पा को शादी के बाद सब कुछ मिला था—घर, संपत्ति, मान-मर्यादा। परिवार भी बहुत ही भले लोगों का था। उसकी अम्माजी तो उसको बहुत लाड़-प्यार करती थीं। उसके बालों में तेल डालतीं, कंघी करती तथा उसे सजाकर उसके गुलाबी कपोलों का चुंबन लिया करती थीं। वृद्धा की उम्र ज्यादा नहीं, केवल बयालीस वर्ष की थी, परन्तु देह का दोहरी होने से वह तीस-पैंतीस से अधिक न लगती थीं। बहू उनको बहुत प्यारी थी, और बहू भी रोज नियम से सास-ससुर के चरणों की पूजा कर तब कुछ करती थी। अम्माजी जैसे कहें, वैसे उठे-बैठे, अम्माजी जैसे कहें, वैसे चले-फिरे। बाबूजी भी बहुत खुश थे उससे। अक्सर कहा करते थे—"सबके घर में बहुएँ आया करती हैं, पर मेरे घर में तो साक्षात् लक्ष्मी ने अवतार लिया है। अपने पुराने जमाने के मित्रों से बहुधा वह अपनी बहू की विचारशीलता की बातें बताया करते थे। उनके यहाँ सुबह-शाम आदमियों की काफी बैठक रहती थी। रहे क्यों न, गाँव के बड़े जमींदार तथा मुखिया भी थे। सब लोग अपने-अपने हृदय में बहू के प्रति श्रद्धा प्रकट करते थे। एक दिन मुखिया साहब बोल उठे—"अभी तक तो मैंने बहू का हाथ तक नहीं देखा, इतने क़ायदे से वह रहती है। खानदानी आदमियों के यहाँ की बहू-बेटियाँ ऐसी ही होती हैं।

चौधरी गिराऊसिंह खानदानी राजा ठहरे। हो क्यों न उनकी बेटी ऐसी।" बाक़ी लोग ऐसे अवसर पर मुखियाजी की बाहरी दालान में अग्नि के चारों ओर बैठकर हाथ-पैर सेंकते। कुछ लोग चिलम का दम लगाते थे। बाक़ी लोग कान पर से अधजली बीड़ियाँ निकाल-निकालकर सुलगाया करते थे।

वृद्धा को बहू की प्रशंसा बहुत भली लगती, इसलिये वह एक किवाड़ भेड़कर सब बातें सुना करती थी। बहू को भी वह कभी-कभी अपने पास बिठाया करती थी। बहू अपनी प्रशंसा सुनकर कुछ लजा जाती थी। उसका हृदय आत्मविभोर होकर नाचने लगता था।

उस दिन की रात फिर पुष्पा की बात चली। मुखियाजी बोले—"बिटिया हमारी आजकल कुछ उदास रहती है। लड़का नालायक़ हो गया। बहू के शील-स्वभाव को देखकर मैं रह जाता हूँ, नहीं तो एक दिन डंड-कमंडलु लेकर जंगल में चला जाता।"

लोग बोल उठे—"यह आप क्या कह रहे हैं? अरे, विनोद बाबू भी बहुत अच्छे आदमी हैं। गाँव में किसी लड़की की ओर कभी नहीं देखते थे। जब आते थे, तो घर से खलिहान और खलिहान से घर।" पति की प्रशंसा सुन पुष्पा नाच उठती। आत्मगौरव की एक स्निग्ध मुस्कान चेहरे पर खेल जाती थी।

"तो फिर वह पत्र इतनी बेरुखाई से क्यों लिखता है? मालूम

पड़ता है, मा-बाप सब मर गए। अभी उस दिन उसका पत्र आया था।" किशोर की ओर इशारा करके—"जाओ बेटा, ज़रा भैया की चिट्ठी तो ले आओ।" किशोर दो क्षण में पत्र लेकर वापस आ गया। चिट्ठी पिताजी को उसने थमा दी, और आग के पास बैठकर दोनों हाथ सेकने लगा। पिताजी ने पढ़ना शुरू किया—

"समस्त परिवार को मेरा यहाँ से यथोचित अभिवादन! अत्र कुशलं तत्रास्तु। अपरंच समाचार यह है कि आप लोग तो मजे में होंगे ही, और मेरी किसको फ़िकर है। विशेष क्या लिखूँ। परीक्षा आनेवाली है।"

किशोर पत्र को सुनकर हँस पड़ा।

मुखियाजी बोले—"उनसे तीन साल छोटा मेरा किशोर इससे लाख दर्जे अच्छा पत्र लिखता है।"

किशोर ख़ुशी से फूल गया। और कोई तो कुछ न बोला, पर सरला ने दाँत खिराते हुए कहा—"उस दिन इसने एक चिट्ठी लिखी, उसमें नीचे लिखा था, 'मैं आपकी किशोर।'"

किशोर ने इसके उत्तर में मुँह बिगाड़कर चिढ़ाना शुरू किया। सरला चिढ़ गई। उसने किशोर की नाक पकड़ ली, और बोली—"चल भाभी के पास, मैं अभी तेरी बदमाशी भुलाती हूँ।"

लोग भाई-बहन की बाल-क्रीड़ा देखकर हँस पड़े। मुखियाजी ने कहा—"ये सब ऐसे ही दिन-भर लड़ा करते हैं।"

---

[११]

बेचारी रूपा! वह रो रही थी। बन्द कमरा खिड़की से साँसें ले रहा था। सन्ध्या आई, और चली गई। शायद दोनो टहलने गए हों। उसके बाद वही चाँदनी रात फिर। चंद्र खिड़की की दरारों से झाँक रहा था। कक्ष के हृदय अंतःस्तल में उसने अपनी स्मृति की लकीरें खींच दीं। संध्या के कपोलों पर भी चाँदनी की एक रेखा खिंच गई थी। उसने उठकर खिड़की खोल दी।

उसके मन में आवेश और क्रोध का तूफ़ान आ गया। वह क्या अपनी सहायता किसी भाँति नहीं कर सकती है? क्या उसे जन्म-भर क़ैदी ही बनकर रहना पड़ेगा? उसका भीतर-ही-भीतर दम घुट रहा था। उसने निश्चय किया कि खिड़की से नीचे सड़क पर गिरकर मर जाय, तो क्या, परंतु वह यहाँ न रहेगी। विनोद इतना क्रूर हो सकता है, इसका आभास उसे अब हो चला था। अन्तर्वेदना ज्वाला बनकर भभक रही थी। आँसू आँखों में ही सूख चले थे, परंतु कपोलों पर उनकी रेखाओं के निशान साफ़ मालूम हो रहे थे।

खिड़की से नीचे एक टीन का छज्जा था। उसमें पड़ोसी के

यहाँ की रसोई बनती थी। इस छज्जे से सटकर एक बिजली का खम्भा खड़ा था। ऊषा ने छज्जे पर धीरे से उतरकर और खम्भे से सरककर नीचे जाना तय कर लिया। वह अपने दोनों पैरों को खिड़की से लटकाकर बैठ गई। रात्रि का प्रथम प्रहर था। कोई साढ़े नौ बजा था। ऊषा ने पैर को थोड़ा और नीचे सरकाया। पैर केवल एक फुट और रह गया था। उसने अपना मुख दीवार की ओर फेर लिया,···कूद पड़ी वहाँ से······!

चंद्र खिलखिलाकर हँस पड़ा। परंतु कितनी निर्दयता थी उसकी हँसी में। काली रात भी डर गई। सन्ध्या रो पड़ी। चन्द्र हँसता था। उसे किसकी फ़िकर थी। दूसरों की दुर्दशा पर हँसना ही तो उसका काम है। वही चन्दा है न, जिसकी रातों में सजे हुए तार नहीं, बल्कि टूटे हुए तारों की वेदना-पूर्ण झनकार गूँजा करती है। वही चाँद, जो विरहाकुल युवतियों को रोते-सिसकते देखकर आकाश में लोट-लोटकर हँसता है। दूसरों की आपत्ति में हँसना ही तो उसका मुख्य कार्य है।

उस रात भी वह हँसा—शायद ऊषा के अनायास छत पर से गिर जाने के कारण। उसके पैर छत पर से फिसल गए, और वह लुढ़कती हुई सड़क के किनारे घास पर सिर के बल गिर पड़ी। सिर फट गया, और बह चली रक्त की धार। ऊषा बेहोश हो गई। गिरते समय ही उसने अपने को किसी अज्ञात शक्ति को सौंप दिया था, जैसे अब तो वह गिर ही रही है, अपनी रक्षा स्वयं कैसे करेगी। रक्षा करनेवाले! तुम्हीं आकर सँभालो। लहू

इधर-उधर छितरा गया। सारे केश लहू में सन गए। मुख, आँख, उरोज आदि सभी अंग तथा साड़ी लाली में फिच गई।

पास से एक कार सरसराती हुई चली गई। कुछ देर बाद एक ताँगा टप-टप करता हुआ निकल गया। ऊषा की अचेतना-वस्था का किसी को पता न था। कुछ कारें भी इसी प्रकार निकल गईं।

फिर एकाएक ऊपर की छत पर बंदरों के कूदने की आवाज़ हुई, और वे सब बिजली के सहारे एक-एक करके उतरने लगे। बंदरों की टोली चाँदनी रात में चली जा रही थी। एकाएक एक बंदर उछलकर ची-ची-ची-ची करने लगा, और बंदर इधर-उधर देखने लगे। बंदर फिर चिल्लाया, और धीरे-धीरे लाश की तरफ़ बढ़ने लगा। टोली के बीच में से एक बंदर बाहर निकला। उसके मुख पर झुर्रियाँ औरों से अधिक थीं, शरीर में भी वह औरों से हृष्ट-पुष्ट था। वह आगे बढ़ गया। उसने ऊषा के पैर का अँगूठा छुआ। उसको एक बार हिलाया, और फिर कुछ देर तक हिलाता रहा। बाद में वह पैर को छोड़कर आगे बढ़ गया। और सब बंदरों ने भी उसकी तरह आगे बढ़-बढ़कर उसका अँगूठा हिलाया, और आगे बढ़ते गए। एक बंदर का बच्चा कूदकर ऊषा के पेट पर बैठ गया, और उसकी साड़ी में अपना मुख लपेटने लगा; तब तक एक बँदरिया ने उसकी दुम पकड़कर पीछे से खींच ली। बंदरों का नायक आगे बढ़ गया, और उसने अपने हाथों से

ऊषा के सारे मुख पर धीरे-धीरे हाथ फेरा। फिर उसका मुख सूँघा, और किलकारी मारकर उछल गया। और बंदर भी चीखने लगे। सारी टोली ऊषा को घेरकर बैठ गई। कुछ शोक मनाने लगे। एकआध नटखट बच्चे टोली में से निकल चाँदनी में घूमते, पर बड़ा बंदर अपने कार्य में संलग्न रहा। ऊषा के बचे हुए अंचल से वह उसका मुख पोंछता था। कभी-कभी खून की गहरी परतों को नाखून से खरोचता, कभी उस नाखून को चाट-चाटकर सूँघता तथा कभी-कभी उसे अपने शरीर के रोओं में चुपड़ देता था। उसके चेहरे से समवेदना का आभास हो रहा था। बेचारे इन बंदरों में कितनी सहृदयता थी। कितनी मानवता का परिचय दे रहे थे ये सब। इन सबों ने ऊषा की रक्षा नहीं की, बल्कि मानव को अपनी महत्ता दिखा गए। काश वहाँ एक बंदर अधमरा विलखता होता...! बालक-वृंद शायद उसे ढेलों से मारकर उसका कचूमर निकाल लेते।

दूर पर आशा चमकती हुई चली आ रही थी। कार का हॉर्न सुनाई पड़ा। कार बिलकुल समीप आ गई। "जान पड़ता है, कारबोरेटर में गर्दा पड़ गया है।" कुछ घबड़ाकर आता हुआ ड्राइवर बोल उठा।

आशा घबरा गई। बोली—'तो अब क्या होगा? रात हो गई है। गाड़ी खोलनी ही पड़ेगी।'

"जी हुजूर, उतर जाइए। मैं अभी ठीक कर देता हूँ।"

आशा उतरकर चाँदनी में टहलने लगी। ड्राइवर ने टूल-बॉक्स निकाला, और बायोनेट खोलकर कारबोरेटर निकालने लगा। आशा चाँदनी में टहलती जा रही थी। दूर पर कुछ चमकती हुई चीज़ दिखाई पड़ी। आशा के पैर उधर ही बढ़ चले। समीप जाने पर सारे बंदर एक साथ चीख़ उठे। सूनेपन में चीख़ गूँज गई। वह डरकर लुढ़क गई। बन्दर उससे लिपट गए। ड्राइवर भी उधर ही बढ़ चला। बन्दर सब हटकर खड़े हो गए। वह आगे बढ़ा। देखा, देखते ही वह काँप गया। एक अजीब चीख़ उसकी अंतरात्मा से फूट पड़ी।

माइंड का बैलेन्स खराब हो गया। थोड़ा सेन्स में आकर वह बैठ गया। रूपा को उठाकर कार की ओर ले चला, और कार में उसे पिछले बर्थ पर लिटाकर अपने काम में लग गया।

स्विच ऑन हुआ, सेल्फ घड़घड़ाया, और गाड़ी चल पड़ी। बन्दर सब धीरे-धीरे चले गए। गाड़ी भी सड़क पर हॉर्न बजाते हुए चल पड़ी—शायद अस्पताल की ओर।

रूपा तुरंत अस्पताल में पहुँच गई, और उसकी देख-रेख शुरू हो गई। डॉक्टर ऑपरेशन-रूम का इन्तज़ाम करने का ऑर्डर दे गया। आशा ड्राइवर के साथ अपने घर चली गई।

सुबह ऑपरेशन-रूम के चारों ओर भीड़-सी हो गई। नर्सें कभी बाहर आतीं, तो कभी भीतर, परन्तु उदास सब थीं।

कुछ देर के बाद दर्शकों की भीड़-सी ऑपरेशन-रूम के चारों ओर जमा हो गई। कई रोगिनें उठ-उठकर इधर-उधर टहलने लगीं, परन्तु जाती थीं सभी ऑपरेशन-रूम के पास।

यह चोट कितनी गहरी थी, और थी कितनी भेद-पूर्ण......उत्सुकता की लहर सबकी आँखों में झलक रही थी। सब आपस में पूछती थीं—"बहन! तुम कुछ जानती हो?"

लड़के आपस में कहते—"क्या हुआ यार, तुम जानते हो कुछ? किसका ऑपरेशन हो रहा है? सुना, रात में कहीं सड़क पर लाश मिली थी?"

सब लोग दुखी थे। कुछ देर बाद डॉक्टर मुस्कराता हुआ ऑपरेशन-थियेटर से बाहर आ गया। लोगों की उत्सुकता और बढ़ चली। अंत में एक लड़के ने तुतलाकर पूछ ही लिया—"डॉक्टर साहब! ऑपरेशन ठीक हो गया?'

डॉक्टर मुस्करा उठा।

लोगों के चेहरे पर मुस्कराहट की लहर दौड़ गई, और अनन्त उल्लास की एक उमड़ती हुई धारा कलकल ध्वनि करती हुई ऊँगी की ओर बढ़ चली।

ऊषा अच्छी होने लगी। उसकी चारपाई के समीप बेड-नम्बर १० पर एक सुशिक्षित युवती पड़ी रहती थी। वह उसकी सदा सहायता किया करती थी। उम्र रही होगी क़रीब तीस या बत्तीस। ऊषा की हालत पर द्रवित होनेवालों में सबसे प्रथम नम्बर इसी महिला का था। चेहरा गोल, गेहुँआ रंग तथा कपोल

में बाईं ओर एक काला तिल अति शोभायमान होता था। सुनहले फ्रेम का चश्मा वह हमेशा लगाये रहती थी। इससे उसके व्यक्तित्व में गम्भीरता और सौन्दर्य भी आ जाता था। बहुधा अगल-बगलवाली रोगिनें उससे समय पूछा करती थीं। उसके बाएँ हाथ की कलाई में एक सुनहरी घड़ी तथा एक सुनहरी चूड़ी सदा पड़ी रहती। सारे कक्ष में वही सबसे अधिक सुशिक्षित तथा शीलवती मालूम पड़ती थी। नाम था उसका कल्पलता, परंतु लोग लता कहा करते थे।

उसने अपने स्वभाव-शीलता का ऊषा को यथेष्ट परिचय दिया। जाने क्यों, ऊषा को देखकर उसे अपने किसी प्रिय जन की जैसे याद आ जाया करती थी। तीसरे दिन के प्रातः-काल ऊषा ने मुस्कराकर अपनी साड़ी का लाल छोर ऊपर उठाया। आशा का सूरज उस लाल अञ्चल से झाँकने लगा। जगत् को प्रकाश मिला, और भयंकर कराहों से गूँजनेवाली रात का अन्धकार दूर हुआ।

सिस्टर ने बहुत ही स्नेह से ऊषा का हाथ अपने हाथों में मगन होकर पकड़ लिया। ऊषा ने मुस्कराकर अँगड़ाई ली। सिस्टर डर गई। बोली—"न, न, न...उठने की अभी कोशिश न करना।" सिस्टर का नाम था मिस करुणादेवी, परंतु मेडिकल कॉलेज के विद्यार्थी उसे मिस के० डी० कहा करते थे। रंग साँवला, शकल बहुत कुछ सुरैया की तरह, खासकर उसकी आँखें तो एकदम वैसी ही थीं। चेहरे पर मादकता नहीं

थी, परंतु आत्मगौरव का तेज था, और उम्र होगी क़रीब बाइस वर्ष की।

एक दिन एक पुस्तक हाथ में लिये हुए वह कमरे में चली आई। ऊषा की चारपाई को देखा। ऊषा नींद में मीठी-मीठी हिलोरें ले रही थी। चादर हटाकर, उसकी शान्त, गम्भीर मुद्रा पर मादकता की लाली छाई देखकर मिस के० डी० के होंठ हिले। परंतु वह कुछ सोचकर चुप हो गई, और बहुत ही हल्के हाथों से सदा की तरह उसने पुस्तक का एक पन्ना उलट दिया। उन पन्नों में कोई विशेषता न थी, परन्तु पता नहीं किस विरह-विकलित हृदय की विरागमयी आँखें उन पन्नों से झाँका करती थीं। जान पड़ता था कि के० डी० उस पुस्तक को किसी का मूक संदेश समझकर उसके अक्षरों में उसी को देखा करती थी।

ऊषा नींद की मस्त लहरों में झूम-सी रही थी। अक्षरों की ओर देखते-देखते सिस्टर की आँखों में से आसुओं का वेग उमड़ चला। आँसू अपनी निरन्तर गति से बहते रहे, और सिस्टर किताब के पन्ने पलटती गई। जाने क्यों सिस्टर की आँखों में खुशी के दो-तीन आँसू आ गए। ऊषा ने खिलखिलाहट सुनी। वह उठकर बैठने लगी। सिस्टर ने उसे न उठने का इशारा करके उसे पुनः सुला दिया। ऊषा के ओंठ मुस्कराते हुए फड़क उठे—"सी······ट···र !"

सिस्टर ने सोचा कि यह शब्द-उच्चारण भूल गई है। ऊषा

की ओर देखकर उसने अधरों की ओर इशारा किया, और बोली—"सीटर नहीं, सिस्टर बोलो, सिस्टर।"

ऊषा ने एकआध बार शब्द को ध्यान-पूर्वक सुना, फिर उसे दुहराया। वह कुछ देर सीटर या सिट्टर कहती रही, परन्तु थोड़ी देर में उसे सिस्टर कहना आ गया। मिस के० डी० पुस्तक लेकर चली गई। कमरे में सन्नाटा छा गया, परंतु एकआध बार बेड-नम्बर बीस की कराह सुनाई पड़ती था, और कभी ऊषा का 'सिस्टर'। वह सिस्टर-शब्द को कहकर उसका अर्थ निकालने का प्रयत्न करती, परंतु उसकी समझ में कुछ न आता।

बातचवाली युवती बम्बई में एक सिनेमा-कम्पनी की प्रोप्राइटर थी। उसे ऊषा की मधुरता तथा उसका तेजोमय मुख-मण्डल बड़ा अच्छा लगा। इसके अलावा आज से एक वर्ष पूर्व उसकी लड़की बेला चौदह वर्ष की होकर उस अनजान प्रदेश की ओर चल पड़ी जिस ओर जाकर फिर कोई वापस नहीं आता। अपनी बेटी की भोलीभाली छवि ऊषा में उसे मिल जाया करती थी। मन-ही-मन उसने ऊषा को कई बार पुत्री की दृष्टि से देखा था, और देखकर रो भी चुकी थी। मन-ही-मन उसने ऊषा को कई बार बेटी-बेटी कहकर पुकारा, उसे जान पड़ा कि उसकी बेला उसको फिर मिल गई, और विरहाकुल नेत्रों से हर्ष और विषाद के दो आँसू छलक पड़े। वह उस समय अपने को न रोक सकी, प्रेम-विह्वल हो पुकार उठी—"बेटी! कैसी तबियत है?"

ऊषा ने करवट ली। उसे देखकर मुस्कराई, पर कुछ बोल न सकी। लता समझ गई कि यह बेचारी बोलना बिलकुल नहीं जानती। उसने ऊषा की आँखों में अपनी आँखें गड़ाकर अपनी ओर इशारा करते हुए कहा—"मा! . मैं मा हूँ।"

ऊषा ने कुछ देर बाद वही रट शुरू की—"मा, मैं मा हूँ।" मा-शब्द उसको अधिक स्पष्ट होने लगा। इसका अर्थ उसकी कुछ-कुछ समझ में आ गया। मा-शब्द किनके लिये होता है? उसने अनुमान लगा लिया। जो अपने सबसे निकट हो, वही मा है। जो प्रेम से देखे, हाथों में मेरा हाथ थामे, और घाव पर पट्टी बाँध दिया करे, वही मा है।

कमरे में अपनी हमेशा की स्वाभाविक मुस्कान के साथ सिस्टर ऊषा के पास आ गई। ऊषा ने उसकी ओर उँगली उठाकर कहा—"मा!"

सिस्टर ने समझ लिया, इसको आज एक नए शब्द का ज्ञान हुआ। उसने अपनी ओर इशारा करके कहा—"मा नहीं, बहन।"

"बहन!...मा नहीं-नहीं?" इतना कहकर वह सिस्टर के मुख की ओर ध्यान-पूर्वक देखने लगी—शायद अपने इस गम्भीर प्रश्न का उत्तर जानने के लिये।

इसी प्रकार उस सिस्टर और चश्मावाली लता से उसने कुछ-कुछ बोलना सीख लिया। उसे बोलने में परेशानी अब कम मालूम होने लगी, बल्कि हृदय में उसे बातचीत करते

समय एक हलकापन-सा, एक संतोष की आभा-सी मिला करती थी। वह बहुधा अनायास ही रोगिनियों से उनके घर का सारा ब्योरा लिया करती थी, पर बहुधा वह अपने को बग़लवाली लता मा तथा सिस्टर बहन तक ही सीमित रखती थी।

सारे डिपार्टमेंट में उसके भोलेपन की चर्चा हुआ करती थी। उसकी बातों से बहुतों को सांत्वना मिलती थी, और बहुतों को तो दर्द तक भूल जाता था। उसके अधर के हिलते ही मुख से भोलापन फूट पड़ता था। दूर-दूर से लड़के तथा लड़कियाँ इस भोली ऊषा को देखने आया करते थे।

उसको लता मा से तथा सिस्टर बहन से प्रेम हो चला। दो-तीन महीने तक ऐसा ही चलता रहा, और फिर एक दिन...

---

[१२]

सन्ध्या-वेला में पक्षी अपने-अपने नीड़ को वापस आ रहे थे। गगन में लाली छा गई थी। व्योम में कहीं-कहीं दूर पर मँडराती हुई पतंगें दृष्टिगोचर होती थीं। एकाएक एक पतंग की डोर टूट गई। वह आकाश में पवन की तरंगों के साथ झूम-झूमकर उतरने लगी। सन्ध्या अपने कक्ष में लेटकर उसी ओर अपलक नेत्रों से देखती चली जाती थी। कहीं पतंगों का आकाश में तैरना, कहीं सारिकाओं का श्वेत रेखा-सी बनकर उड़ना तथा कभी दूर पर बादलों का मँडराना, वह देखती जा रही थी। सामने ऊषा गगन-पटल पर सुहाग-सिन्दूर-सी शोभायमान हो रही थी। कुछ देर बाद सन्ध्या क्षितिज के भी पार चली गई। पता नहीं, वहाँ क्या है? काश वहाँ भी ऊषा, चाँदनी, तथा सागर की तरंगों का झूमना होता! एकाएक सन्ध्या के आगे अँधियारा छा गया। ऊषा को भयानक काली घटा की एक चट्टान छिपा ले गई। वह खो गई। सन्ध्या विकल हो उसे आकाश में खोजने लगी। काश खोजने का यथेष्ट समय मिल पाता! इसी खोज में सन्ध्या स्वयं खो गई।

निस्तब्धता वातावरण में जग उठी। सन्ध्या का ध्यान टूटा, और वह मुड़कर इधर-उधर भोलेपन से देखने लगी। जान पड़ता था, कोई व्याकुल मृगी मुड़-मुड़कर शिकारी के भय से देख रही हो।

कृष्णचंद्र समीप आ गया। ध्वनि गूँज उठी—"लल्ली! बाबूजी बुला रहे हैं।"

सन्ध्या उठ खड़ी हुई, और चल पड़ी चुपचाप सेठ सागर के शयनागार की ओर।

"पिताजी, आपने मुझे बुलाया?" सन्ध्या शांत भाव से बोल पड़ी।

"हाँ बेटी! एक तार अँगरेजी में अभी आया है। जरा पढ़कर मतलब बता दे।" टेलीग्राम फार्म को आगे बढ़ाते हुए सेठ सागर अपनी मोटी आवाज में घरघरा उठे।

सन्ध्या ने दो क्षण उसे मन में पढ़ा, और फिर हर्ष और विषाद की तरंगों में डूबने-उतराने लगी। उसके मस्तिष्क में विचारों का एक झोंका आया—यहाँ से जाने के बाद दीपक मुझे सदा के लिये भुला देगा। मेरे यहाँ पर रहने से शायद उसमें विचार-परिवर्तन की कोई सम्भावना हो, और आशा की कोई किरण दीपक से निकलकर सन्ध्या को जगमगा दे।

उस दिन का उसका हृदय-विदारक संवाद तथा उसकी आँखों से बरसते हुए आग के शोलों में क्या सन्ध्या में खिलनेवाली सान्ध्यबेली सींची जा सकती है? उसके सिंचन के लिये तो

नीर चाहिए—हृदय-शृंग से निकले हुए सोते की एक उज्ज्वल, शीतल धारा ही केवल उसका सिंचन कर सकती थी। उस धारा की एक तरंग क्या, एक बूँद भी सन्ध्या दीपक से न पा सकी। उसने पाया, तो क्या—केवल दीपक की ज्वालामयी आँच। उसी से वह हृदय-सांध्यबेली को सींचती जा रही थी, परंतु इस सिंचन से लाभ? इससे तो शिशुबेली भुनकर मुरझा जायगी, सूखकर बिखर जायगी, सन्ध्या को भय हुआ। यदि वह अपने मामा के यहाँ चली जाय, तो .....? सरोज, चम्पा, माया और कमला आदि वहाँ सैकड़ों हमजोली की लड़कियाँ हैं, शायद जी लग जाय, और फिर चम्पा उसकी सहेलियों में सबसे उत्तम स्थान उसके हृदय में पा चुकी है। कितनी अच्छी है उसकी सहेली चम्पा! न जाने पर वह निराश हो जायगी, फिर जाने वह क्या कहे अथवा सोचे-समझे। मैं उसके पास अवश्य जाऊँगी।— सन्ध्या ने टेलीग्राम पढ़कर यही तय किया। वह जल्द-से-जल्द चम्पा के यहाँ चली जाय।

सेठ सागर ने उत्सुकता से पूछा—"क्या बात है बेटी! सब कुशल-मंगल तो है न?" फिर थोड़ा रुक और साँस लेकर—"कहाँ से आया है?"

सन्ध्या ने तार का समाचार सुना दिया। सेठजी बोले—"तो तुझे जाना पड़ेगा, और कुछ दिन वहाँ, जब तक चम्पा अच्छी न हो जायगी, रहना पड़ेगा। तूने क्या विचारा है।"

सन्ध्या ने एक दीर्घ निःश्वास छोड़ी, और फिर धीरे से तार को परखते हुए बोल पड़ी—"हाँ, जाना तो पड़ेगा ही। एक गाड़ी साढ़े नौ बजे जायगी। कदाचित् मिल जाय।"

सेठ सागर ने मुड़कर दीवाल की घड़ी में देखा। बोले, अभी तो साढ़े सात बजे हैं, दो घंटे बाक़ी हैं।"

कृष्णचंद्र बीच में ही आतुरता से बोल पड़ा—"लेकिन समय से कुछ पूर्व ही वहाँ पहुँचना चाहिए।"

सन्ध्या ने अपनी स्वीकृति दी। सामान बाँधा जाने लगा, और सूटकेश में कुछ वस्त्राभूषण, एक बिस्तरा और एक हैंडबेग अलग बँधकर तैयार हो गया।

सन्ध्या को तब तक एक पत्र लिखने की सूझ गई। लिखने लगी वह।

"............"

"सन्ध्या का समय अब न रहा। अब तुम्हारा समय आ गया, परन्तु इससे क्या? देखो दीपक, हम-तुम बराबर जलते रहे। इस जलन को भूल न जाना। मैं एक बार फिर कहूँगी कि तुमने मुझे गलत समझा, और अपना भ्रम दूर हो जाने के बाद तुम बहुत पछताओगे। तुम मुझे पागल बनकर ढूँढ़ोगे, पर मैं तुमको न मिलूँगी। लेकिन तुम इससे निराश न हो जाना, मध्याह्न की प्रखर आँच के चले जाने पर मैं तुम्हें अपनी बेला पर मिलूँगी। छोटे-मोटे तूफ़ानों से हमारी प्रेम-नौका न डूब

सकेगी। इसका तुम्हें मैं अपनी तरफ़ से विश्वास दिलाती हूँ।"
अब तुम कैसे भी हो जाओ, पर मेरी हृदय-तरंगें तुम्हारे प्रेम के ही बूँदें बहा सकेंगी। दीपक ! तुमसे प्रेम करके मैंने तुम्हारी तरह से जलते रहना सीख लिया।

अपनी सन्ध्या को भूल न जाना।
तुम्हारे हृदय-रूपी तरंगों में बिछी हुई चाँदनी,
सन्ध्या, तुम्हारी सन्ध्या।"

सन्ध्या के हृदय में दीपक की याद रह-रहकर आने लगी। चाँदनी रातों में नावों में सैर-सपाटे तथा प्यार की मीठी-मीठी बातें उसके हृदय-रूपी व्योम में चाँदनी बनकर लोटने लगीं। मीठी-मीठी याद ने हृदय-वृक्ष को वियोग की आँधी से झकझोर दिया, और आँसू पल्लवों की तरह टूट-टूटकर गिरने लगे। कुछ अश्रु-कण सन्ध्या के लिखे अक्षरों पर गिर पड़े, तथा कुछ उसके आँचल में गिरकर लुढ़कने लगे।

किसी के आने की आहट मिली, और सन्ध्या ने तुरन्त पत्र को चार परतों में कर अँगरेजी की एक किताब में रख दिया। आगन्तुक की छाया कमरे में हिलने लगी। सन्ध्या ने पूछा—"कौन है ?" कृष्ण समीप आकर बोला—"नौ बज गए हैं। कार पर सब सामान रख दिया गया है। अब आप तैयार हो जाइए।"

सन्ध्या ने कहा—"चलो, मैं तो कब से तैयार बैठी हूँ।" पिता ने पुत्री को बिदा दी, और सागर की शांत लहरों से सन्ध्या दूर यामिनी के अञ्चल में छिप गई।

स्टेशन पर गाड़ी प्लेटफ़ार्म-नम्बर तीन पर लगी थी। सन्ध्या जाकर गाड़ी में फ़र्स्ट क्लास में जाकर बैठ गई। कुछ देर में काफ़ी चहल-पहल मच गई। कहीं पान-बीड़ी-सिगरेट, तो कहीं ऊर्दू के रिसाले और हिन्दी के मैगज़ीन के शब्द गूँजने लगे। डिब्बे के चारो ओर लोग टहलने लगे।

इतने में गॉर्ड ने सीटी दी, और दो क्षण रुककर गाड़ी हिल उठी, और चलने लगी एक ओर। कुछ देर में गाड़ी ने गति पकड़ ली, और धुआँ उड़ाती हुई ताल बद्ध गति से दौड़ने लगी। अभी चन्द्रोदय में देर थी। निशा ने अपने मुख को काले अञ्चल से ढक लिया। सन्ध्या दूर तक देखती, पर उसे कुछ दिखाई न देता। हाँ, कभी-कभी एकआध गाँवों के बाहर के घरों में कहीं-कहीं दीपक टिमटिमा रहे थे। विरक्ति की लौ सन्ध्या को जगमगा जाती थी। दूर पर एक दीपक काँपते हुए लौ में टिमटिमा रहा था। काश वह !...सन्ध्या उसे उत्सुकता से देखती गई, और आशा बनकर वह चमकता रहा। वायु का एक झोंका आया। भीतर के प्रकाश में उसके केश लहरा उठे, और उसका प्रेम-अञ्चल ऊँचा उड़ चला। दीपक की लौ एकदम छोटी हो गई। काश वह दो क्षण और जल जाता, तो सन्ध्या अपने हृदय को पतिंगा बनाकर उस तक उड़ा ले जाती. और दीपक से कहती—"दीपक ! तुम मेरे लिये जलते रहे, अब मैं भी तुममें जलकर तुम्हारी ज्योति में अपनी आत्मज्योति मिलाकर तुम्हारी प्रेम-लौ के साथ आकाश में उड़

चलूँगी।" दीपक की लौ एक बार फिर ऊपर उठी, और सन्ध्या की आँखों में हर्ष-विषाद के दो आँसू छलक आये।

आगे बिजलियों की जगमगाहट तथा प्लेटफ़ार्म की चीख सुनाई पड़ी, और आ गया संडीला। गाड़ी की गति मन्द पड़ने लगी, और एकाएक वह प्लेटफ़ार्म पर आकर रुक गई। रुकते ही कई आदमी भूल उठे। 'पान-बीड़ी-सिगरेट!' के फेरे होने लगे। कुछ देर बाद गाड़ी सीटी देकर चल पड़ी।

इसी प्रकार कई स्टेशन छूट गए। वायु का एक हल्का-सा झोंका आया, और सन्ध्या की आँखों में निद्रा ने साज फैला दिया। कुछ काल बाद नींद की मीठी-मीठी हिलोरों में सन्ध्या डूब गई। अन्तिम बार गाड़ी दिल्ली में जाकर रुकी। प्रातःकाल-वेला बीत चुकी थी, और आकाश में चढ़ रहा था प्रखर मध्याह्न। सन्ध्या ने कुली को इशारा किया, और प्लेटफ़ार्म पर उतर गई।

"टैक्सी स्टैंड ले चलो सामान" सन्ध्या ने गम्भीरता से आदेश दिया।

कुली उधर ही बढ़ चले। सन्ध्या कार में बैठ चल पड़ी एक ओर। कुछ देर के बाद सड़क के किनारे ऊँची-ऊँची अट्टालिकायें दिखाई पड़ती थीं, और इनमें से जो थोड़ा पीछे हटकर लाल पुता हुआ है, वहीं आकर कार रुक गई।

जुही दरवाजे पर खेल रही थी, और बहुत से शिशु थे। बच्चों में शोरगुल मच गया। सब बोले—"चलो ताईजी के यहाँ। कोई आया है। बता दिया जाय।"

जुही पहले ही जाकर अम्मा से और चम्पा दीदी से कह चुकी थी—"मोटर पर सन्ध्या जीजी आ गईं।"

आनन्द और उत्सुकता की एक लहर सारे भवन में गूँज उठी—"जीजी आ गईं।" चारों ओर शोर हो गया—"जीजी आ गईं।" माया और सरोज दरवाजे के बाहर आ गईं, और हैंडबेग लेकर भीतर की ओर लौट गईं, हरदेव दौड़ा हुआ बाहर आया, और सारा सामान उसने भीतर रख दिया। इतने में चम्पा भी उसी तरफ़ चली आई। द्वार पर बच्चों और किशोरियों की एक भीड़ लग गई। सन्ध्या मुस्करा उठी। कमला और माया उसे अन्दर लिवा ले गईं। जहाँ उसने मामीजी के पैर छुए, और अन्य सखियों से भी दिल खोलकर मिली। चम्पा को तो उसने चिपटा लिया। प्रेम की धारा आँखों से बहने लगी। चम्पा भी लिपटकर रो पड़ी। दोनों बहुत देर तक सिसकती रहीं।

भीतर से आवाज आई—"लल्ली, आओ, अब नाश्ता कर लो।" मुस्कराती हुई—"जाओ, मेरी अच्छी दीदी, नाश्ता कर लो। फिर हम खूब घुल-मिलकर ...." चम्पा बोल उठी।

सन्ध्या उठी, साथ में कमला, माया, सरोज तथा शिशुओं का एक गिरोह उधर ही पीछे-पीछे चला। मामीजी ने सन्ध्या को प्यार से चारपाई पर बिठलाकर उसे तृषित नेत्रों से देखा, फिर बोली—"मेरी रानी तो अब काफ़ी बड़ी हो गई। अब इसकी किसी राजकुमार से......।"

सन्ध्या लजा गई। कमला बोल उठी—"दीदी, तुमने एम० ए० अभी पास कर लिया या नहीं? अब तो मैं तुमसे रोज अँगरेजी पढ़ा करूँगी।"

मामीजी प्यार से झिड़कारते हुए बोली—"अरे, वाह री अँगरेजीवाली! चल हट यहाँ से...। अभी तो मेरी लाड़ली इम्तहान देकर आई है। तुम्हारे लिये माथापच्ची कौन करे?"

सन्ध्या ने कहा—"इसमें माथापच्ची की कौन-सी बात है। मैं तुझे रोज पढ़ा दिया करूँगी। तू निराश मत हो कमला!"

फिर दूसरे ही दिन कमला हाथ में एक पुस्तक लिये सन्ध्या के पास आ गई। सन्ध्या ने उसे ग्रामर पढ़ाना शुरू किया। कमला घबड़ा गई। उसे पसीना आ गया। कुछ देर बाद बोली—"जीजी! आओ चलें, चम्पा बहन के पास। देखें, वह क्या कर रही हैं।" दोनो उधर ही चली गईं।

[१३]

विनोद घर वापस आया, ताला खोलकर अन्दर बढ़ चला। उसे अब अपने पर बड़ा पछतावा हो रहा था। उस बेचारी ने मेरा क्या बिगाड़ा? एक ओर तो मैंने उसे जीवन-भर का आश्रय दिया, और दूसरी ओर उसको मैंने कमरे में बन्द कर दिया। बेचारी रोती-कलपती होगी। दो दिन से उसने कुछ खाना भी नहीं खाया है। मेरे बारे में न-जाने क्या सोचती होगी? मैं बहुत ही नीच हूँ। अपने ऊपर उसे क्रोध हो आया। उसको ऐसा जान पड़ा कि ऊषा उसी कमरे में रोती-सिसकती होगी। ऐसी पवित्र देवी का उसने उपहास किया। जाने ईश्वर उसे कौन दंड दे? अब केवल एक उपाय था। वह था ऊषा से अपनी सब ग़लतियों की क्षमा-याचना।

वह ऊषा के कक्ष की ओर बढ़ चला। बाहर से पुकारा—"ऊषा, मुझे माफ़ कर दो। मैंने तुम्हारे साथ बड़ा अन्याय किया......। किवाड़ खोलो, ऊषा!"

सूने भवन में आवाज़ गूँजती गई। अपनी आवाज़ का कोई उत्तर न पाकर वह कुछ घबरा-सा गया। बोल उठा—

"ऊषा ! दरवाजा खोल दो······दरवाजा खोलो ऊषा !" कोई उत्तर न पाकर वह और घबड़ा गया। ऊषा यदि होती, तो अब तक अवश्य बोल देती। यह सन्नाटा उसको भय दिखला रहा था। वह कुछ क्षण शांत हो कमरे में टहलता रहा। एकाएक किवाड़ खड़के। विनोद को कुछ आशा बँधी, शायद ऊषा द्रवित हो गई हो।

आगे बढ़ गया, देखा कोई नहीं। किवाड़ उसी प्रकार बन्द। रात्रि का प्रथम प्रहर बीत चुका था, क़रीब साढ़े ग्यारह बजे थे। घड़ी कमरे में टिक-टिक करती हुई निरन्तर गति से चली जा रही थी, किवाड़ एक बार फिर खड़के। विनोद एकदम घबड़ा गया। इधर-उधर चौंककर देखने लगा। दूसरे कमरे की एक खिड़की खुली हुई थी। आँधी भयानक रूप से चल रही थी। एकाएक टीन छमछमा उठे, और पानी बरसना शुरू हो गया। उधर आँधी प्रबल होकर शोर मचाती थी। बौछारें कमरे के मध्य तक पहुँच रही थीं। अधखुली खिड़कियाँ खुल-खुलकर भड़ाके से बन्द होती थीं। और विनोद चौंक-चौंककर उन्हें कभी देखता, कभी बन्द कर देता, और कभी-कभी माथे पर से पसीना पोछता था। उसने जेब से एक सिगरेट निकालकर उसे जलाया। धुआँ लहराकर गगन की ओर बढ़ चला।

सामने दीवाल पर पुष्पा का चित्र झूल रहा था।

उसके नीचे एक बहुत बड़ा शीशा दीवाल में जड़ा हुआ था—

इतना बड़ा कि मनुष्य की पूरी छाया उसमें आ जाती थी। शीशे के पीछे धुआँ पुष्पा के चित्र की ओर बढ़ चला।

शीशे में विनोद अपनी शकल देखकर घबड़ा गया। वह सोचने लगा—क्या मैं पागल हो गया हूँ। कहीं यह स्वप्न तो नहीं देख रहा हूँ। किवाड़ एक बार फिर खड़के और सामने से कोई आता हुआ दिखाई पड़ा। विनोद ने झट पिस्तौल निकाल ली, और गरजकर बोला—"कौन है ?..... इधर कौन आ रहा है ?" जूते की टाप बढ़ती गई, और विनोद पीछे हटता गया।

"कौन हो तुम ?" विनोद पुनः गरज पड़ा।

"बहुत परेशान मालूम पड़ रहे हो, क्या बात है ? बेटा !" आवाज गूँज गई।

"पिताजी ! आप........क्या करने आये हैं ?"

"मालूम पड़ता है कि तुम पागल हो गये हो। होश सँभालो अपना।"

"लेकिन इतनी रात !"

"हाँ, अब तुम होश में आये हो।" कोट उतारते हुए वह कहने लगे—"गाड़ी चार-पाँच घंटे लेट हो गई थी। लेकिन तुम अभी क्या कर रहे थे ?"

"मैं कुछ परेशान हो गया था, पिताजी !" उसने सूखा घूँट लेते हुए कहा—"पता नहीं क्यों ?"

अच्छा, खैर देखो गाँव से एकआध लड़के आये हैं। वे सब

तुम्हारे साथ शायद कुछ दिन रहना चाहें। बाद होस्टल में भरती हो जायँगे। पर जब तक वह तुम्हारे साथ रहें, तुम उनका ठीक स्वागत करना। गाँव में मेरी इज्जत है। उसको रखने के लिये ऐसा ही करना उचित है। मैं तो एक जरूरी काम से आया था, कल शाम की छ बजेवाली गाड़ी से चला जाऊँगा।"

आवाज विनोद के कान में रह-रहकर गूँजती—'तुम उनका ठीक स्वागत करना। गाँव में मेरी इज्जत है। उसको रखने के लिये ऐसा ही करना उचित है।" जैसे वह गैरों का स्वागत करने के लिये बैठा हुआ हो। उन गँवार लड़कों पर उसे बड़ा क्रोध आया। उनमें से एक लड़का उसके फूफा का भी था, नाम था रतन। उसका लिहाज विनोद पहले भी किया करता था। रतन हाईस्कूल परीक्षा में पास हो चुका था।

दूसरे दिन शाम को पिताजी चले गये। विनोद पिताजी को स्टेशन छोड़ने गया था।

रतन ने रेडियो का स्विच घुमाया, फिर मीटर की सुई। एका-एक ध्वनि कमरे में गूँज गई। मीटर की सुई घुमाते-घुमाते वह उसे तोड़ बैठा। रेडियो से घरघराहट आ रही थी। पर उसे बन्द कैसे करे। वह अलग जाकर बैठ गया।

उधर गाँव के दो लड़के मिडिल पास होकर अँगरेजी के स्पेशल क्लास में नाम लिखाने आये थे। आपस में कभी खेत-खलिहान, कभी कटिया-बोवनी की बातें करते, तो कभी

अंकगणित और भूगोल के बारे में उलझे रहते। विनोद को यह सब बड़ा बुरा लगा। वह चाहता था कि उसको एक क्षण कमरे में शान्ति मिले, तो ऊषा के कमरे में जाकर देखे। जाने क्या हो रहा हो वहाँ। ऊषा बेचारी भूख-प्यास से तड़प रही होगी।

वह रेडियो की ओर बढ़ा। देखा, तो सुई टूटी पड़ी है। जल-भुनकर बेचारा रह गया। अन्त में दालान में गया वह। खेत-खलिहान की बातें छन रही थीं। वह रोष में आगे बढ़ गया, दोनों लड़के डर गये। रतन तो पहले से ही डरा हुआ था, विनोद के गुस्से को देख भय से काँपने लगा।

अन्त में विनोद ऊषा के कमरे की ओर फिर चला। किवाड़ बन्द थे, शान्ति छाई थी।...निस्तब्धता। वह भय और क्रोध से काँप रहा था। बल-पूर्वक किवाड़ों को उसने तोड़ दिया। भीतर कोई न था। पंछी पिंजड़ा खोलकर उड़ गया था। विनोद गुस्सा और घबराहट से अपने बाल नोचने लगा। लड़के आकर तमाशा देखने लगे। रतन ने कहा—"क्या बात है भैया? आप इतने परेशान क्यों हैं......?"

उसने कुछ जवाब न दिया। झट कमरे से बाहर आया। दोनों लड़के बैल की तरह आँखें निकाले खड़े थे। उसे क्रोध आया, उसने उन्हें सामने से ढकेल दिया।

बाहर सड़क पर खड़ा होकर विनोद हाँफने लगा। कुछ दूर सड़क के किनारे लहू की बूँदें तथा कुछ स्पष्ट लकीरें दिखाई

पड़ी, तो वह और घबड़ा गया। कुछ समझ में न आता था कि किसके यहाँ जाय, क्या करे?

किसी से पूछ भी तो वह नहीं सकता था और सन्ध्या के सिवा उसने किसी को बतलाया भी न था। बतलाता कैसे? छिपानेवाली बात थी।

कुछ सोच-विचारकर वह उधर ही चल पड़ा। शायद सन्ध्या को पता हो, और वह उसे साथ ले गई हो। यदि ऐसा हो गया हो, तो बहुत ही दुःखद होगा। वह किस कालकोठरी में मुँह छिपायेगा। संसार उसे क्रूर, नीच और न-जाने क्या-क्या...... समझे?

कभी-कभी विचार आता कि सन्ध्या से किसी और के द्वारा ऊषा का पता लगाया जाय। पर सन्ध्या के घर कौन जाय? जानें उसके पिताजी कैसे आदमी हैं?—मिलने दें अथवा द्वार पर से ही भगा दें। परन्तु यदि विनोद उसके लिये प्यार में इतना भी न कर सका, तो उसके जीवन को धिक्कार होगा। किसी पुस्तक माँगने या लौटाने के बहाने वहाँ पहुँच ही जाय, और सन्ध्या के रुख को देखकर ऊषा के बारे में ......। परन्तु यदि वह बिना पूछ-ताछ किये फटकारना शुरू कर देगी, तो कितनी बुरी हालत होगी। इनसल्ट हो जायगी—ग्रेट इनसल्ट।

वह वापस आकर कुर्सी पर धड़ाम से गिर पड़ा। भावी रण में कैसे लड़ा जाय, वह सोचने लगा। रतन बड़बड़ा

उठा। विनोद ने कुछ-कुछ ध्वनि सुनी। जैसे कोई कह रहा हो—"भैया तो एकदम निष्ठुर हो गए हैं। हम लोगों की बात तक नहीं पूछते।"

फिर जोर से सुनाई पड़ा—"लखनऊ में सनीमा बड़ा अच्छा होता है। भैया आज शाम को चलेंगे, तो हम लोगों को भी लिवा चलेंगे।" रतन ने साहस करके कहा—"भैया, भगवती कहता है कि हम लोग आज सनीमा जायँगे। मैं तो सनीमा देखता नहीं, लेकिन यदि आप कहेंगे, तो आपकी बात तो मुझे माननी ही पड़ेगी।

विनोद उबल पड़ा—"तुम सब लोग दालान की ओर भाग जाओ, वर्ना मैं खुद कहीं चला जाऊँगा। देख रहे हो कि मेरी तबियत ठीक नहीं है। सिर पर बत्तखों की तरह चखचख किये जा रहे हैं।" वह आवेश में आ गया—"निकलो सब लोग यहाँ से। तुम सब लोग कमरे से इसी क्षण बाहर जाओ, और जाकर बकबक करो। मैं मना करने नहीं आऊँगा। गाँव में जाकर जो कुछ करना हो, कर लेना।"

लड़के सब डरकर कमरे से बाहर भाग गये। बाहर जाकर सब भुनभुनाने लगे। रतन भी बाहर की ओर ऐंठता हुआ शान के साथ चला। विनोद गर्ज उठा—"जाते क्यों नहीं हो यहाँ से। मालूम पड़ता है कि कमर टूट गई है। ऐंठ के चल रहे हैं।"

"यह हमारी युनिवर्सिटी का बड़ा अच्छा लड़का है, डैडी ! पढ़ने में बहुत तेज है, और मुझको एकदम सगी बहन-सी जानता है।"

दीपक का भ्रम दूर हो गया। वह अब शशि से सदा खुलकर बातचीत किया करता था। दोनो एक दूसरे को अवसर पड़ने पर भाई-बहन कहकर पुकारा करते थे।

युनिवर्सिटी वह शशि को साथ लेकर जाता था। साथ में लेकर ही वापस आता था। घर में दीपक का बड़ा मान था। शशि की मा बड़ी सुशील थी। दीपक उसको भला लगा, इसीलिये उसके पहुँचते ही चाय-पकौड़ियों का ढेर लग जाता था। कभी-कभी वह शशि के घर पर पढ़ता-पढ़ता सो जाता था।

क्लास में दोनो आमने-सामने बैठा करते थे। दोनो कभी-कभी क्लास में भी बातचीत कर लिया करते थे। पढ़ने में किसी का दिल नहीं लगता था, अफ़वाह उड़ी। शशि के घर तक पहुँच गई। लड़कियाँ कब चूकनेवाली थीं। डैडी थोड़ा नाराज़ हुए, पर दिखावटी। वह दीपक को जानते थे। वह जानते थे, दीपक की ओर से उन्हें किसी तरह का नुक़सान मुमकिन नहीं है, इसीलिये उन्होंने दोनो को छूट दे दी थी। लोगों का कानाफूसी करना उन्हें बिलकुल पसन्द न था। इसको रोकने के लिये उन्होंने चुग़लख़ोरों को फटकारा। जनता ख़िलाफ़ हो गई। उन्हें शशि को भी थोड़ा रोकना पड़ा।

"शशि ! तू समझदार है। लोग इधर-उधर कान भरते हैं। दीपक का ज्यादा साथ मत कर।"

"डैडी ! ये आप क्या कहते हैं ? काश.......!"

"मुझे सब कुछ मालूम है, मेरी बच्ची ! पर लोग...।"

"आप भी लोगों से डरते हैं ? पिताजी ! मुझे मालूम न था।"

डॉक्टर साहब कड़क उठे—"चुप रहो। एक बार समझा दिया, समझा दिया। अब कुछ होगा, तो तुम जानो।"

डॉक्टर साहब चले गए। शशि का हृदय कसक उठा। उसके हृदय में एक टीस उठी। एक मीठा-मीठा दर्द हुआ। तुरंत ब्लाउज़ बदलकर वह बाहर आ गई, और चप्पल खटकाती हुई पैदल चल पड़ी।

चोरी-छिपके मुलाक़ातें होने लगीं। इन मुलाक़ातों में शशि की ओर से एक मूक संवाद-सा आया करता था। दीपक के चिंतन का विषय भी हो जाता, परंतु वह हँसकर टाल देता—भैया जो बन चुका था। चाँदनी रातों में दीपक और शशि टहलते हुए दूर तक चले जाते थे। कभी साथ-साथ में युनिवर्सिटी से लौटते और रास्ते में मैटिनी शो की सोची जाती। दोनो की रुचि थी, दोनो को उत्सुकता। उनके जीवन के अधिकांश प्रहर छिप-छिपकर साथ में कट जाया करते थे।

अनजान में एक बिजली दीपक के हृदय में रेंग रही थी। उसे उसकी गुदगुदी मालूम पड़ती थी। उसके जीवन में परिवर्तन हो रहा था। उसे शशि के बिना अच्छा नहीं लगता था।

शशि का तो कहना ही क्या ? बेचारी हर समय भैया की

आस लगाए बैठी रहती थी। दोनो मिलते ही खुशी से उछल पड़ते थे।

अँधियारा पक्ष आ गया। सावन-भादों की रात्रि थी। नाव की सैर करना था। युनिवर्सिटी में ही तय हो चुका था। नाव शाम ही को ठीक कर ली गई।

सरिता का गहरा हरा जल हवा के झकोरों से उछल जाता था। अँधेरी काली रात्रि छाई हुई थी। कहीं-कहीं पर अंधकार में पेड़ों की एक हल्की-सी छाया मिल पाती थी। छत्रमंजिल के ऊपर की नीली-लाल बिजलियाँ पानी में जगमगा रही थीं। दूर—आकाश में तारे टिमटिमा रहे थे। सहसा एक तारा टूटा, और आकाश में तैरता हुआ एक ओर को निकल गया।

भयानक शांति छाई हुई थी। दीपक शशि को टटोलने लगा। शशि आकर समीप बैठ गई।

"शशि! तुम्हें कुछ दिखाई पड़ता है? कितना अंधकार छाया है!"

"अंधकार! सामने देखो प्रीति के दीपक जगमगा रहे हैं। पर जोन्हियाँ खेल रही हैं। प्रीति की डोंगी तैरती हुई चली जा है। अंधकार कैसा?"

दीपक चुप हो गया। वह मतलब नहीं समझा।—"प्रीति की डोंगी!" वह सोचने लगा—"तो क्या यह मुझसे प्रेम करती है?" विचारों में वह उलझ गया। फिर मन-ही-मन में प्रश्न का समाधान हो गया। वह फिर जागा।

पर शांति छाई रही। शशि उठी। दीपक की बगल में बैठ गई। दीपक के हृदय में उत्सुकता की एक लहर उठी, गुदगुदी का एक स्रोत उमड़ा, और प्यार का एक स्वप्न उठ खड़ा हुआ। वह दो क्षण भाई-बहन के शब्दों को भूल गया। स्वभाव का बनावटी आवरण हट गया। वास्तविकता खिलकर नाच उठी। शशि का स्वप्न पूरा हुआ। वह आनन्द-मग्न हो गई। उसने अपने शरीर को ढीला कर दीपक के हाथों में सौंप दिया। दीपक जान या अनजान में उसकी ओर बढ़ने लगा। उसने शशि को भुजा-पाशों में बाँध लिया। शशि ने गहरी चुप्पी साधी। उसने अभिनय किया, जैसे उसे नींद आ गई हो।

दीपक की लव फड़फड़ाने लगी। उसका तेज क्षीण होने लगा। हृदय में भँवरें उठने लगीं। उन्हीं भँवरों में नाव चक्कर खाने लगी। शशि एकाएक चौंक उठी। नाव भँवर में फँस गई थी। चक्रवाल में दोनों डूबने लगे।

"यह क्या ?" उसने प्रश्न किया।

"घबराओ मत।" उत्तर मिला।

"नाव को छोड़ना मत। दीपक! साथ मत छोड़ना। नाव डूब रही है। दीपक, तुम बच जाओ!"

रात्रि के निबिड़ अंधकार में एक चीख उठी—"दीपक! बचाओ।"

नाव चक्कर लगाती गई। नाव डूबती गई!! दीपक की

आँखों के आगे संध्या की शकल आकर खड़ी हो गई !!! सुनाई पड़ा—"दीपक ! क्या तुम बुझ गए ?"

उसके अधर हिले—"नहीं संध्या ! तुम्हारे लिये मैं ऐसे ही सदा जला करूँगा। बुझ भी जाऊँगा, परंतु तुमको देखते ही मेरी लव भभक उठेगी।"

पर शशि का क्या हो ? दीपक ही को बचाना था। उसने शशि का हाथ पकड़ लिया। गोद में उठाकर सरिता में भँवर से दूर फेंक दिया। दीपक भी उछलकर कूद गया।

शशि बच गई। दीपक भी बच गया। भीगे कपड़े ! कोई देखता, तो क्या कहता ?

दीपक शशि की ओर, शशि दीपक की ओर बढ़ने लगी। दोनों के हाथ लपके। संध्या ऐसे ही समय आ जाया करती थी। दीपक सँभल जाता था। शशि खो जाती थी।

शशि के न रहने पर सन्ध्या बराबर स्वप्न बनकर दीपक के पास आ जाया करती थी। ऊपर एक नीला आकाश। नीचे दोनों एक दूसरे की ओर लपकते थे। परंतु बीच में थे मकान, शहर और दीवारें।

दोनों बालू में पटकी हुई मछली की तरह से तड़प-तड़पकर रह जाते थे। बेचारी शशि को कुछ पता न था। वह भी एक चाल खेल रही थी।

परंतु वह दीपक के हृदय तक नहीं पहुँची थी। दीपक के

खोएपन को वीराने और सूनेपन के कारण ही समझा करती थी।

शायद उसने सोचा कि नारी का अंचल इस टिमटिमाते हुए लव को बुझने से बचा सके। अब वह अपने को दीपक से दो क्षण भी अलग नहीं रख सकती थी। वह अधीर हो उठी थी। और फिर······।

---

[१९]

ऊषा फ़िल्म में आ गई। उसे हीरोइन का पार्ट मिला था। उसकी उत्सुकता में बाढ़ आ गई थी। पिक्चर का नाम था—'आकाश के फूल'। सारे शहर में राधा की चर्चा चल रही थी। लोगों को आशा थी कि राधा निकट भविष्य में सबसे अधिक बढ़ जायगी। उसे प्लेबैक की भी आवश्यकता नहीं थी, स्वयं गा लेती थी। नृत्य में तो वह सबके दिल में नाचा ही करती थी। राधा की लोकप्रियता बढ़ने लगी।

समाचार-पत्रों में उसके चित्र निकाले गए। राधा की फ़ोटो को लोग घरों में टाँगने लगे। टेबुल पर रखने लगे। पिक्चर लखनऊ में गर्मी की छुट्टियों के बाद जुलाई में आया। विनोद अपने साथियों को लेकर फ़र्स्ट शो में पहुँचा।

कुछ रील इन्डियन न्यूज़ रिव्यू के चलते रहे। जवाहर-लालजी का विदेश-यात्रा और खाद्य परिस्थित के बारे में देश-भ्रमण इत्यादि दिखाया जाने लगा।

उसके बाद 'माँझी' का एक ट्रेलर आया। मार, उछल-कूद, रोना-गाना, सब एक के बाद एक-एक करके आने लगे। "पिक्चर

अच्छा मालूम होता है ।" किसी ने कहा। पास के सज्जन ने कहा—"ट्रेलर से क्या होता है? पिक्चर आए तब देखना।"

एक ने कहा—"पहले जिसे देखना हो, उसे देखो, फिर...।"

मोटे-मोटे अक्षरों में आ गया—'आकाश के फूल।' लोग प्रसन्न हो गए। धुन चलती रही। आरकेस्ट्रा अति मधुर लगता था। चल-चित्र का आरकेस्ट्रा के साथ समन्वय में एक ऐसी झलक उठती थी, जैसे किसी सरिता की तरंगों में पल्लव तैर रहा हो। दोनो झूम-झूमकर आगे बढ़ते थे। शांति छा गई।

अभिनेत्रियों के नाम एक-एक करके आने लगे। विनोद असमंजस में पड़ गया। क्या उसे धोखा हो गया? पहला नाम था राधा का, शकल थी ऊषा की। वह घबड़ा गया। आजकल कॉलेज में राधा के बारे में बड़ी चर्चा हो रही थी। पर देखा किसी ने भी नहीं था। राधा को देखने पर बहुतों की उत्सुकता बुझी, पर हृदय में अशांति पैदा हो गई।

अशांति से मानव थोड़ा घबड़ाता है, पर उसके बिना शांति भी तो नहीं हो सकती। दोनो का एक में समन्वय है। वे एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते। शांति में सुख है, तो अशांति में जीवन। अशांति में ही मानव संघर्ष करता है। अशांति में ही भविष्य की झलक रहती है। ऐसे ही समय पर मानव में अंतर्द्वंद्व उठता है। वह संघर्ष के लिये कटिबद्ध तैयार हो जाता है।

विनोद भी तैयार हो गया।

पिक्चर शुरू हो गया। प्रातःकाल—ऊषा की लालिमा। पल्लवों में से छनकर रवि किरणें रक्तिम आभा में मुस्किरा रही थीं, पर इस मुस्कराहट में थी—मधुर शांति। दूर एक पहाड़ी से मुरली की ध्वनि गम्भीर भैरव में लहरा जाती थी। हरे-भरे खेतों में गाँव की लड़कियाँ घूम रही थीं। ऊषा के पैर छम से बोले। सूर्य उठने लगा। झूम-झूमकर ऊषा नाचती हुई दूर निकल गई। पीछे-पीछे गाँव की लड़कियाँ भी चलती गईं। गायन होता गया—

मिलन का संदेशा आया।
झूम उठे हरियाली ;
नाच उठे फुल ारी।
दूर पपीहा मुसकाया ;
िलन का संदेशा आया।

गले की लोच भी क्या चीज होती है! और फिर दर्द से उसका मिलाप !!

ऊषा आज विनोद के आगे नाच रही थी, पर वह उसे देख नहीं सकता था। मिलकर भी मिल नहीं सकता था। मिलन हुआ, पर कोरी छाया से! दर्शक लोग मस्ती में झूमने लगे। लोग सिर हिलाने लगे। गाना और रुनझुन चलता रहा। सौंदर्य-सरिता बहती रही।

विनोद उठकर खड़ा हो गया। पिक्चर के बाहर आ गया। वह मन के वेग को न रोक सका। उसके हृदय पर सहसा

बिजली गिर गई थी—"ऊषा! तुम कहाँ हो? मैं तुमको खोज रहा हूँ।" मुख से शब्द निकल पड़े।

"विनोद, तुमने मेरे साथ बड़ा जुल्म किया है, इसीलिये तुम थोड़ा मेरे पीछे परेशान होगे।" उसे सुनाई पड़ा।

वह इधर-उधर परेशान होकर देखने लगा। आस-पास कोई न था। वह लौटकर, कर्टेन हटाकर अपनी सीट पर बैठ गया। पिक्चर चल रही थी।

सरूप का पार्ट था। विनोद में जलन पैदा हुई, पर उसे वह उस समय दबा गया। वह कुछ देर और देखता रहा। ऊषा का बार-बार उसके सामने आना, और आँखों के आगे ही चला जाना उसके हृदय में उदासी की फूँक मार जाता था। सुनाई पड़ा—

"प्रीतम! मैं तुम्हें खोजने के लिये हैरान थी। मैं तुम्हारे पीछे बहुत भटकी, लेकिन तुम मुझसे दूर होते गए, और आज......" कुछ देर चुप होकर—"आखिर मैं, जब तुम मुझे न मिले, मैं उस ओर जा रही हूँ, जहाँ हम दोनो को अंत में मिलना है। तुम आओगे न? प्रीतम! भूलना मत।" वह मुस्किरा पड़ी। मुस्किराहट में आँसू के बूँद ढुलककर हृदय के अंतरिक्ष से होते हुए एक अनजान प्रदेश की ओर चले गए।

दर्शकों की आँखों में से एक-एक आँसू हर्ष-विषाद के निकल पड़े। ऊषा आज रो रही थी। विनोद के आगे रो रही थी। वह उसकी खोज में था, पर वह उससे मिल नहीं सकता था। वह

उसके लिये कुछ करके अपने कलंक को धोना चाहता था। वह उसे अपना हृदय सौंपकर सच्ची मुहब्बत की ओर बढ़ना चाहता था, पर उसे पा नहीं सकता था। यह विरह असह्य था, परंतु होता क्या ?

कहानी चलती रही। ऊषा से रंजन प्रेम करने लगा। रंजन उसके पीछे बेक़रार बनकर घूमता रहा। एक दिन वे मिले।

दोनो के अरमानों ने अँगड़ाई ली। मिलन के गीत गाए गये, और फिर……।

संध्या की वेला, सरिता के तट पर कुंजरायन से थोड़ा हटकर ऊषा खड़ी हो गई। ऊषा का संसार में कोई न था। रिक्त संसार में ऊषा भटकती रही। हँसी-ख़ुशी का जीवन यों ही बीत गया। वह पागल हो गई। अपने को आज वह रोक न सकी। नदी हुंकार कर उठी। वह आँख मूँदकर कूद पड़ी। तैरती हुई कुछ दूर तक चली गई। अब आगे जाकर क्या होगा ? वह नीच धँस गई। जल ने एक बार उसे फिर उछाला। उस पार रंजन चिल्लाकर कूद पड़ा। वह जल्दी से हाथ पैर फेकता हुआ आ गया। ऊषा ने भी बढ़ने का प्रयास किया। दोनो !……

जनता में उत्सुकता बढ़ी। सबने संतोष की एक साँस ली।

दोनो ने एक दूसरे को पा लिया। ऊषा ने हाथ-पैर ढीले कर दिए। वह पानी से दूर जाकर संसार में फिर आशा और निराशा के मध्य भटकना नहीं चाहती थी। उसने रंजन को बाहुपाशों में जकड़ लिया। दोनो डूबने लगे। रंजन घबड़ा

गया। उसने ऊषा के हाथों से अपने को छुड़ा लिया। वह भग चला! ऊषा! अकेली रह गई!! बेचारी उषा...!!! आज वह डूब गई। संसार ने उसको डुबो दिया। समाज ने उसको डुबो दिया। "और वाह रे रंजन! तुम्हारी मुहब्बत भी क्या रही? धोखेबाज़!" जनता ने उसे देखकर नाक-भौं सिकोड़ी।

ऊषा तरंगों में सदा के लिये खो गई। रंजन मनोरंजन में भूल गया। आगे कहानी बढ़ती गई, लेकिन विनोद की कहानी यहीं ख़त्म हो गई थी।

वह फ़ौरन् बाहर आया। ताँगे से घर गया। कुछ रुपए लेकर वह तुरंत स्टेशन की ओर चल पड़ा। गाड़ी छूट गई थी। यह समय रुकने का न था। वह रेल की पटरियों के सहारे पैदल चल पड़ा।

रात्रि का समय था। अँधियारा छाया था। उसी में वह सात मील निकल गया। आ गई अमौसी। वह दो क्षण रुका, फिर चल पड़ा। कहीं मेंढकों का टर्र-टर्र, कहीं झिल्ली की झनकार, और कहीं-कहीं पर सर्पों की चीख़ सुनाई पड़ रही थी, पर यह उस संसार में था, जिसके पार विनोद कभी पहुँच चुका था। अब संसार में वह ऊषा को ही देख पाता था। उसे कोई भय नहीं था। शून्य संसार में वह प्रेमांध बनकर भटकने लगा। सामने से एक गाँव का चौकीदार पगड़ी बाँधे, लाठी और लालटेन लिए पटरी उस पार चला गया। प्रकाश में विनोद को थोड़ी आसानी हुई। वह और जल्दी-जल्दी चलने लगा। रात भर गई थी, पर यह आराम करने

का समय न था। वह चलता गया। एकाएक उसे याद हो आया कि अमौसी में उसे हवाई जहाज़ मिल सकता था। वह लौट पड़ा। एयरोड्रोम सीधे जाकर उसने जहाज़-संचालक को बम्बई चलने की आज्ञा दी। विचारों के तूफ़ान में विनोद उड़ता हुआ चला गया। एयरोड्रोम से विनोद को टैक्सी न मिल सकी। पैदल ही वहाँ से शहर में पहुँच गया।

बम्बई में वह इधर-उधर भटकता रहा। तीसरे दिन उसे ऊषा का सब हाल-चाल मालूम हो गया। ऊषा एक फ़िल्म-ऐक्ट्रेस थी, एक फ़िल्म-स्टार। जाने वह विनोद को अब पहचानेगी। पर उसे परवाह न थी। वह पागलों-सी दाढ़ी बढ़ाए, रूखा चेहरा लिए सेठ तिकड़मीलाल की कोठी पर पहुँच गया।

"कहाँ से आए हो? कौन हो तुम?" चौकीदार ने लाठी सभालते हुए कड़ककर पूछा।

विनोद को क्रोध आ गया, पर वह उसे पी गया। उसने एक रुपया ठन से बजाकर चौकीदार को दे दिया। चौकीदार ने रास्ता दे दिया। घर में किसी ने आवभगत न की। करता कौन? ऐसे मुसंडे मैले कपड़ों में बम्बई की सड़कों पर घूमा ही करते हैं। कोई आ गया होगा? यही भावना सबके हृदय में एक बार आ जाती थी।

ऊषा एक हाथ में हैंडबेग लेकर कहीं से आ गई। सीढ़ियों पर चढ़ते समय उसने देखा कि सामने एक सुन्दर युवक टहल रहा है। कपड़े मैले थे, उसने कोई ध्यान न दिया।

विनोद देखकर हट गया। एक बार चौंका, फिर परेशान होकर देखने लगा। आँखों में धूप का चश्मा, अधरों पर लिपस्टिक की लाली, केश घुँघराले होकर नाच रहे थे। पीली, रेशमी साड़ी लपेटे वह बाहर से आई, और चपला की तरह चली गई।

वह आगे बढ़ गया। आवेश का एक तूफ़ान आया। उसने पुकारा—"जी, सुनिए।"

पर सुननेवाला वहाँ पर होता, तब तो?

राधा कमरे से निकलकर ड्राइंग-रूम में आकर बैठ गई। सेठ तिकड़मीलाल से न रहा गया। कड़ककर बोले—"कौन हो तुम?"

"परदेसी हूँ, सेठजी—परदेसी।" उत्तर मिला।

"यहाँ क्या कर रहे हो?"

"नौकरी की तलाश में हूँ।"

"यहाँ कोई नौकरी नहीं मिलेगी। भाग जाओ।" कड़कते हुए सेठजी बोल पड़े।

विनोद ने एक बार सेठजी को घूरकर देखा।

"आँखें क्यों फाड़-फाड़कर देखता है?" सेठ ने क्रोधावेश में कहा।

विनोद लौट पड़ा। राधा इतने में आ गई। बोली—"पिताजी, क्या बात है? यह कौन है?"

"कोई नहीं, बेटी! एक आवारा मालूम पड़ता है। तुम जाओ।"

"नहीं, पिताजी ! आदमी तो शरीफ लगता है। ग़रीब ज़रूर लग रहा है। और, यदि आवारा भी है, तो बड़ा अच्छा है।"

"यह क्या बकती हो? राधा! तुम पागल तो नहीं हो गई हो?"

उसने पिताजी को संकेत से बुलाया। कान में धीरे से कहा— "इसे हमारे सिनेमा में काम दे दीजिए। हमें एक आवारा का पार्ट कराना है। खोजना नहीं पड़ेगा।"

सेठ तिकड़मीलाल मुस्किरा उठे। बोले—"अच्छी बात है। अब तो तू काफ़ी होशियार हो गई।" गम्भीर होकर—"लेकिन यह आवारा मालूम होता है।"

"तो क्या? मैं इसे देख लूँगी। यह मेरा कुछ नहीं कर सकता, पिताजी!"

सेठजी मुस्किराते हुए चले गए। युवक ने मुड़कर राधा को देखा। उसकी आँखों में एक कहानी छिपी हुई थी, उसकी दृष्टि में एक वेदना!.......जान पड़ता था, वह कह रहा है— "तुमने मुझे ठुकरा दिया। मैं तुम्हारे प्रेम में पागल बनकर आया, और अब चिता की राख बनकर उड़ जाऊँगा, लेकिन तुम्हें दया नहीं आती। इतनी जल्दी प्रीति की वह कहानी भूल गईं। जाओ, संसार में नाचो-कूदो। संसार-सागर की सुनहली मौजों में पिछली कहानी भूल जाओ। जहाँ जाओ, सुखी रहो। अब मैं यहाँ से जा रहा हूँ, लेकिन याद रक्खो, मेरी आहें

तुम्हारे दिल में पहुँचकर तुम्हें तड़पा देंगी। तुम सारे सुखों के मध्य रहकर भी सदा दुखी रहोगी।"

राधा पिघल गई। उसने पुकारा। युवक ने घूमकर देखा। राधा ने संकेत किया। युवक को फिर आशा बँधी। वह लौट आया—"तुम मेरे यहाँ नौकरी करोगे ?"

"हाँ, यदि मिल जाय, तो !" उत्तर मिला।

"तुम गाना जानते हो ?"

"गाना !" वह मुस्किरा पड़ा—"साज के बिना गाना कैसा ? ऊषा ! मेरे साथ अन्याय मत करो।"

"क्या मतलब ? तुम अभिनय तो अच्छा करते हो।" राधा मुस्किरा पड़ी।

"यह अभिनय नहीं, मेरा राज़ है।" विनोद गम्भीर हो गया।

"राज़ ! कैसा राज़ ?" उत्सुकता में ऊषा डूबने लगी।

"ऊषा !" विनोद कड़क उठा। वह आवेश में बह चला। नियंत्रण को पार कर गया।

सारे बाँध टूट गए। वह जल्दी-जल्दी कहने लगा—"ऊषा ! मुझे माफ करो।" फिर थोड़ा रुककर—"मैंने तुम्हारे साथ बड़ा जुल्म किया। मुझे ईश्वर कभी नहीं क्षमा करेगा, लेकिन तुम......। ऊषा ! तुम मुझे क्षमा कर दो। मैं जानता हूँ कि तुम मुझसे घृणा करती होगी। मैं ऐसी ही वस्तु हूँ। मुझसे सारे संसार को घृणा करना चाहिए। मुझे बड़ा अफ़सोस है।

किशोर करुणाजनक दृष्टि से देखता हुआ फूट पड़ा—"भाभी, मैं इसका बदला जरूर लूँगा। तुम भी सुबह बाबूजी से कह देना।" पुष्पा को कुछ हँसी-सी आई। उसके बाद उसने उसको भी उसके माफ़िक़ बचन दे दिया। किशोर दालान में जाकर अपनी खाट पर लेट गया। चद्दर तानते ही वह खर्राटे लेने लगा।

आ गई सरला थाल लिए हुए। पुष्पा ने देखा कि उसकी एक न चलेगी, तो उसने एकआध निवाले खाना शुरू कर दिया। सरला प्रेम से उसका मुख देखने लगी। एकाएक उसे कुछ याद आ गया। उसने भाभी से कहा—"तुमने लखनऊवाली चिट्ठी पढ़ ली कि नहीं।"

"कौन-सी ?"

"वही, जो आज सुबह आई थी।"

पुष्पा की उत्सुकता और बढ़ी। सरला ने ताक़ के ऊपर स्लेट के नीचे से चिट्ठी निकाली। चिट्ठी उसने बढ़ाकर पुष्पा के हाथों में थमा दी। पुष्पा ने एक बार परतों को खोल सरसरी निगाह से सारी चिट्ठी देख डाली। एक जगह रोशनाई की बूँद टपक पड़ी थी। उसने आगे देखा, और फिर अन्त में अपने लिये प्रयोग किए हुए शब्दों को देख वह अवाक् रह गई। पत्र अश्लील था। उसमें पुष्पा के ऊपर अनेक प्रकार से छींटा-कशी की गई थी। पुष्पा विकल हो गई। उसने पत्र शुरू से

एक-एक अक्षर पढ़ना शुरू किया। एक-एक अक्षर में उसे बीती प्यार की एक-एक झलक दिखाई देती। करुणा से पिघलकर वह अश्रु-स्रोतों में फूट पड़ी। सरला चीख़ पड़ी—"भाभी !"

पुष्पा फफकने लगी। सरला ने दिलासा दी। और, इसी में विरह की एक रात कट गई।

दूसरे दिन प्रातःकाल ऊषा भरतनाट्यं के लिये सज-धजकर दूर से थिरकती हुई आई। आकाश पर बिछी हुई नीली चाँदनी पर वह बसंती साड़ी में झूम रही थी। कुछ लचकी हुई कमर, एक हाथ में सूर्य ऊपर उठ रहा था, और दूसरे हाथ में चन्दा नीचे। मस्त नागों की तरह बादल आकाश में झूमने लगे। पवन का एक थपेड़ा आया, और ऊषा के केश झूम उठे। गाँव की सारी लड़कियाँ तथा नन्ही किशोरियाँ पनघट की ओर जाने लगीं। कुछ गिरोह से अलग होकर वेशंत की ओर चली गईं। जलकुम्भी से सारा जल ढक गया। जाड़े के दिन थे। पूस-माघ का महीना। पुआलों में से कुत्ते निकल-निकलकर ओस से भीगे खेतों की क्यारियों में दौड़ रहे थे। दूर पर घाघरा की तरंगें चमक-सी रही थीं। कुछ वृद्ध सरिता की ओर से स्नान आदि करके कन्धे पर भीगी हुई धोती रक्खे चले आ रहे थे।

लड़कियों में वार्ता छिड़ी। सरला और कांति एक ओर को चली गईं—शायद नदी की ओर।

छितराए हुए ठंडे सिकता के कणों को मुट्ठी में बाँध-बाँध-

कर गिराना यही काम था। दोनो बैठी-बैठी नदी की ओर सरकने लगीं।

"सरला !"

किसी ध्यान-तन्द्रा से चौंककर सरला बोल पड़ी—"ऊँ !"

"क्या सोच रही हो ? एक बात सुनो।"

"कहो।"

"नहीं कहती, जाओ।"

"अच्छा, मत कहो।" उसने रूखेपन से उत्तर दिया।

"तुम्हारी चिट्ठी लाई हूँ। भैया ने कहा है किसी को बताना मत।"

सरला उत्सुकता से चौंक पड़ी—"मेरी चिट्ठी ! तुम्हारे भैया ने लिखी है ? क्या लिखा है, लाओ, देखूँ।"

सरला ने पत्र छीन लिया। पत्र नन्दन का लिखा हुआ था। ऐसे कई पत्र वह और पा चुकी थी। उसे ज्ञात था, नन्दन उसको भेद भरी दृष्टि से छिप-छिपकर देखा करता था। उसकी आँख में सरला ने चाहना की एक झलक देखी। नन्दन के बारे में जानने की उत्सुकता सरला में भी पनपने लगी। सरला और कान्ति का एकान्त-मिलन प्रायः इसी विषय में होता था, पर आज का पत्र तो एकदम निराला था।

"मेरी ....सरले !

मैंने तुम्हें कई पत्र भेजे। शायद इसी आशा पर, जिस पर सन्ध्या में कोकिला कूका करती है। तुम्हारी आकृति से मुझको

ऐसा आभास होता है, जैसे मैंने तुम्हें पहले कभी देखा हो। हम-तुम जन्म-जन्म से एक होकर रहे। इस जन्म में यह विरह क्यों ? तुम्हारी ठंढी-शरबती आँखों में प्यार मिश्री की डली बनकर घुल गया है। उनसे भोलेपन की मिठास आती है। तुम कितनी सुन्दर हो, कल्पना से परे। सौन्दर्य-मन्दिर में क्या तुम देव-बाला से कम हो ? तुम्हारा रूप, तुम्हारी छवि, तुम्हारा चाञ्चल्य और तुम्हारी याद रह-रहकर मेरे हृदय-रूपी व्योम में शतहृदा बनकर कड़क जाया करती है। तुम्हारी मीठी-मीठी याद में आहों के सहारे जिन्दगी की वीरान घड़ियाँ गिनता जा रहा हूँ, गिनता रहूँगा, और तुम न आओगी। क्यों ? क्या तुम मुझसे······नहीं। यह प्रश्न मैं तुमसे नहीं कर सकता। पता नहीं, तुम क्या उत्तर दोगी। मैं तुमसे यही सुनना चाहता हूँ कि तुम मुझसे मेरी ही तरह प्रेम करती हो। मैं तुम्हारे मुख से छवि में सने हुए प्यार के दो शब्द सुनना चाहता हूँ। यह जिन्दगी और मौत का खेल है। किसी को यह पत्र दिखाना मत।

मैं जानता हूँ कि तुम मेरे लिये बहुत ही बेचैन होगी। इसी-लिये मैं तुमसे मिलकर कुछ बातें करना चाहता हूँ। सन्ध्या के समय नदी पर आना। वहाँ मैं मिलूँगा। तुमको मेरे प्यार की सौगंध है, जरूर आना।

तुम्हारी याद में आह-भरी 'एक कहानी'—

नन्दन"

विचारों का एक तूफ़ान उठा। उत्सुकता की घटा छा गई। सरला चुपचाप उठी, और पत्र लेकर एक ओर बढ़ चली। घर लौट आई। भाभीवाले कमरे में कोई न था। वह पत्र के अक्षरों को बार-बार पढ़ती। उसका हृदय गद्‌गद हो उठा। कंठ मारे ख़ुशी के भर गया। शीशे में अपना मुख देखकर हँसने लगी। अपनी छाया से उसने हँसी की प्रतियोगिता में होड़ बाँध ली। अपना हँसता हुआ मुख देखकर वह और हँस पड़ती।

मेरी आकृति उन्हें पहचानी हुई लगती है। जैसे कभी पहले देखा हो। कब देखा? जब मैं मा की कोख में भी नहीं थी। झूठा! क्या मैं पहले भी थी? और उसके पहले भी कभी थी, और मरने के बाद फिर मैं क्या पैदा होऊँगी? जब पैदा ही होना होता है, तो मनुष्य के मरने की क्या आवश्यकता? मैं नहीं मरूँगी, और न मैं थी कभी। लेकिन...

लेकिन उन्हें कैसे मालूम कि मैं पहले थी, और उन्होंने मुझे देखा। वह झूठ तो बोलते न होंगे। वह धोखा तो देंगे न? उसको नन्दन के ऊपर सन्देह हुआ। परन्तु नन्दन तो अँगरेज़ी की कई किताबें पढ़ चुका है, वह झूठ क्या बोल सकेगा? इसी प्रकार और आगे जाकर एक बाँध आया, जहाँ से वह वापस आकर पत्र में अक्षरों को फिर खोजने लगी। आगे थी उसी की प्रशंसा। वह बार-बार उन पंक्तियों को पढ़ती रही।—"तुम्हारी ठंडी शरबती आँखों में प्यार मिश्री की डली बनकर घुल गया है। कल्पना से परे। सौंदर्य-मंदिर में क्या तुम देव-बाला

से कम हो ? तुम्हारा रूप, तुम्हारा चांचल्य, तुम्हारी छवि और..............."

उसने कई बार इन पंक्तियों को दुहराया। उसे बड़ा सुख अनुभव हो रहा था। उसका हृदय नन्दन की ओर जाने के लिये बार-बार प्रेरित करता, परन्तु लज्जा की दीवार प्रेम-सरिता के उमड़ते हुए जल-स्रोत को बाँध देती। वह कुछ खोई-सी रहने लगी। दिन-भर कुछ उसे अच्छा न लगा।

दोपहर के बाद तीन-चार बजे पुष्पा चौके-पानी से निबट-कर आ गई। देखा, तो सरला हाथ में काग़ज़ को पसारे खूब ग़ौर से लेटे-लेटे पढ़ रही है। वह चुपचाप देखती रही। खाट पर बैठ गई। सरला को अब तक पता न चला।

पुष्पा ने पत्र छीन लिया। बोली—"कैसा पत्र है ? किसका है ?"

"भाभी, तुमको मेरी क़सम है। वापस कर दो मुझे।" सरला के मुख पर कँरकँरी छा गई। उसकी आवाज़ स्पष्ट नहीं निकल पाती थी। अंत में माँगकर थक गई, तब उसने छीनना शुरू किया। परन्तु पुष्पा ने काग़ज़ सरला के हाथ न लगने दिया।

"सच-सच बता। किसका पत्र है यह ?" कड़ककर पुष्पा ने पूछा। अंत में निराश होकर सरला ने उत्तर दिया—"अच्छा, भाभी, बताऊँगी, लेकिन किसी से कहना मत। मैं तुम्हारे पाँव पड़ती हूँ।"

सरला ने लज्जा के आवरण को चीरकर सत्यता को पुष्पा के सामने रख दिया। दोनो रोने लगीं। पुष्पा ने उसे गले लगा लिया, और कुछ देर बाद उसकी ओर कटाक्ष करती हुई मुस्कराकर बोली—"लेकिन मैं तो अपनी नन्द रानी को निरी बच्ची समझती थी।" सरला लज्जा से छुईमुई हो गई।

उस दिन के बाद से सरला और उसकी भाभी में प्रेम के बारे में चर्चा हुआ करती थी। सरला अब भाभी से खुले तौर से बातें करती थी। एक दिन सरला ने भाभी से अकस्मात् प्रश्न किया—"भाभी, तुमने कभी किसी से प्रेम किया है?"

सरला के प्रश्न से पुष्पा कुछ चिढ़ गई, परंतु उसने यह प्रकट न होने दिया। वह प्रश्न टालते हुए बोली—"कोई और पत्र तब से मिला या नहीं?"

"किसने बताया आपको?" घबराकर सरला फूट पड़ी।

"मुझे सब कुछ मालूम है।" पुष्पा ने छेड़ा।

"आपको फिर दिखा दूँगी। इस वक़् पता नहीं, कहाँ रक्खा है।"

"हूँ।" एक घटना-पूर्ण हुंकार में उसने उत्तर दिया। दूसरे ही क्षण उसने अञ्चल से एक पत्र निकाला। यह था उसके शादी के प्रारम्भ का मँगनी-पत्र। पत्र की ओर संकेत करते हुए

पुष्पा ने कहा—"एक दिन इसी क़िस्म का एक काग़ज़ तुझको भी तेरी ससुराल में पहुँचा देगा, तब तेरा प्रेम क्या करेगा? छोड़ दे सरला! छोड़ दे यह सब प्रेम का झगड़ा। बड़ा ख़तरनाक होता है यह।" सरला को पुष्पा की चेतावनी अच्छी न लगी, और इसीलिये एक दिन......।

---

[१६]

ऊषा के अच्छे हो जाने के बाद लता उसे लेकर बम्बई चली गई। ऊषा को यहाँ हर तरह का आराम था। लता के पति बम्बई के लखपतियों और प्रमुख रईसों में से थे। वह एक फ़िल्म-कम्पनी के निरीक्षक तथा निर्देशक भी थे। इसके अलावा वह सट्टे का व्यापार भी किया करते थे। समस्त बम्बई-नगर में सेठ तिकड़मीलाल बहुत प्रसिद्ध थे।

सब कुछ होते हुए भी उनके घर में सदा उदासी छाई रहती थी। लक्ष्मी की सारी विभूतियाँ थीं, परंतु......! ईश्वर की इच्छा न थी या उसका प्रकोप था, उनके घर में कोई बाल-बच्चा न था। घर में कोई शोर मचानेवाला, चीख़ने-चिल्लाने-वाला न था। माता-पिता वे कभी बन चुके थे। कभी उनके हर्ष-उद्यान में बेला खिली थी, परंतु कली बनकर ही रह गई! अधखिली होकर रह गई। बेला किशोरी बनकर रह गई—काश वह तरुणी बन पाती।

ऊषा अपना नाम भूल चुकी थी। उसकी एक नई ज़िन्दगी शुरू हुई थी। जिसमें उसका एक नया नाम रक्खा गया।

नाम था राधा। राधा सारे भवन में मचल-मचलकर अँग-ड़ाइयाँ लिया करती थी।

लता और सेठजी ने अपने आरमानों की नीलिमा में राधा की चाँदनी बरसते देखा। वे दोनो जैसे वर्षों से कुछ खोया पा गए हों। उनके सूखे हुए अधर फिर से लहलहा उठे। उनको खुश देखकर पड़ोस के लोग भी खुश हो गए। नौकर-चाकर भी आत्मविभोर हो उठे। होते क्यों न, सेठ हीरालाल उन्हें अपने बच्चों की तरह प्यार करते थे। स्वयं कुछ दुखी रहा करते थे, इसलिये नौकर भी कुछ उदास-से रहते थे।

राधा अब सोलह वर्ष की हो चुकी थी। उसकी शादी की बातें भी हुआ करती थीं, परंतु दोनो की इच्छा इस विषय में विलम्ब करने की ही थी। शादी के पहले उसको पूर्ण कलावती बना देने की दोनो की इच्छा थी। राधा के लिये एक नृत्य-निर्देशक खोजा गया, और कला की ओर वह झूम-झूमकर बढ़ने लगी।

राधा के चरित्र में गम्भीरता तथा भोलापन आकस्मिक घटनाओं के कारण आ गया था। वह गम्भीरता से उस मराठी नृत्यकार की बातें सुना करती थी। भरतनाट्यं में वह बहुत निपुण हो गई, और मास्टर ने अपनी मेहनत को सबके सामने रखने के लिये एक नृत्य-कार्य-क्रम आयो-जित किया।

शहर के सारे रईस आमंत्रित किए गए। स्वरूप भी अपने

पिताजी के साथ आया। उसके पिता एक अच्छे ताल्लुक़ेदार थे। उनके पास कारों का एक जमघट-सा रहता था। प्रतिवर्ष नए माडल की ही कारें वे रखते थे, बाक़ी सबको नीलाम करवा देते। अगल-बग़ल दो बॉडीगार्ड चला करते थे। दोनो के हाथ में भरी हुई बन्दूक़!

नृत्य का कार्य-क्रम रात्रि को दस बजे से प्रारम्भ होना था, परंतु यह निमंत्रण बहुत रोचक तथा लोक-प्रिय था। रसिकों के लिये तो पूछना ही क्या? कुछ लोग सोचते थे कि प्याला और मिष्ठान्न का तो प्रबंध होगा ही। चलना अवश्य चाहिए। इंतज़ारी खल रही थी। थोड़ा और पहले शुरू होता, तो क्या ही अच्छा था। लोग शाम को सात-आठ बजे से ही पहुँचने लगे। बड़े आँगन में चाँदनी बिछी हुई थी। चारों ओर मख़मली कोचें पड़ी हुई थीं। उनके सामने गोल मेज़ रक्खे हुए थे। सारा इंतज़ाम बहुत कला-पूर्ण ढंग से सजाया गया था। सामने एक बड़ा पर्दा पड़ा हुआ था। पर्दे पर अच्छी चित्रकारी थी, वह दर्शकों को बहुत पसंद आई। एक सरिता शांत समीर के मधुर झकोरों में हिलोरें ले रही थी। उस पार एक चिता जल रही थी। चिता के ऊपर उठती हुई एक लड़के की छाया आकाश की ओर जैसे जा रही हो। इस पार एक अजीब लड़की! मुख पर बिखरे हुए केश, कुछ आगे की ओर झुकी हुई, एक हाथ किसी की खोज में आगे बढ़ा हुआ था। वह पगली-सी जान पड़ती थी। वह आगे बढ़ना चाहती थी, परंतु

डोंगी बीच धारा में हिल-डुल रही थी। न उस पार, न इस पार, वह लपकती ही रह गई। ऊपर गोल चन्द्रमा खिलखिला-कर हँस रहा था।

दर्शक चित्र की गहराइयों में खो गए। कुछ लोग बार-बार कलाई की ओर देखते। साढ़े नौ बज चुके थे। आधा घंटा और था। स्वरूप आकर सबसे अगले कोच पर क़ीमती वस्त्रालंकारों में बैठ गया। नौकर-चाकर फल-मिठाइयाँ मेजों पर रखने लगे।

·ठीक दस बजे पर्दा हट गया। सबकी निगाहें सामने दौड़ गईं। कितनों के मन की मुराद पूरी हुई। सब लोग खुश हो गए। ताली बजने लगी।

दाहने ओर तानपूरा और बेला बजाने के लिये दो लड़कियाँ बैठी हुई थीं, और बाएँ ओर थे उस्ताद करीमखाँ। पास में कुछ और वृद्ध उस्ताद लोग थोड़ा हटकर बैठे हुए थे। सबके पास अपने अलग-अलग बाजे—मुरली, इसराज, बेला, मृदंग और पगापयल सब कटिबद्ध थे। सब ओर से जाकर लोगों की निगाहें ऊषा के ऊपर टिक गईं।

ऊपर से नीचे तक रंगबिरंगी रेशमी झलक। वह अत्यन्त गम्भीर थी, सौन्दर्य की एक महान् सुन्दर कल्पना। रेशमी हरा कचनार ब्लाउज़! उरोजों से लिपटी हुई एक वनमाला सुनहली आभा में झलक रही थी। माथे पर नीली बिन्दी। वसंती रेशमी साड़ी दोनो जाँघों में लिपटी हुई थी।

निस्तब्धता छा गई। नृत्य आरम्भ हुआ। छम से आवाज़ हुई। मुस्करा उठे लोग—ऊषा में एक अजीब आकर्षण-शक्ति पैदा हो गई। सारे शरीर को ढीला करके उसने भाँति-भाँति से मोड़ना शुरू किया। उसकी कमर उछल-उछलकर कन्धों तक चली जाती थी। केशों की लटें झूमते हुए नागों की तरह उसके शरीर-भर में लोट रही थीं। कभी वह अञ्चल से मुख छिपा लेती, दर्शक व्याकुल हो उठते।

वायलीन पर गत निरंतर गति से चली जा रही थी। लोग मस्त होकर झूमने लगे। मृदंगी ने दुगुन किया। लय बढ़ी। सुननेवाले जल्दी-जल्दी हाथ-पैर, अँगूठे चलाने लगे। धीरे-धीरे लय चौगुन हो उठी। पायलों का घोर छम-छम मच उठा। जैसे वर्षा में टीन का छत छमछमा उठे। सबके कर्ण एकाग्र हो गए।

लय एकाएक मन्द होकर पहली तरह चलने लगी। लोगों ने रुककर साँस लिया। शब्द गूँज उठे—सुन्दर, अति सुन्दर, क्या ख़ूब, कमाल है साहब, कमाल है! किसी ने कहा—"कला इसी को कहते हैं!" फिर सब लोग चुप।

गत चलती रही। राधा झूमती रही। कभी-कभी वायु का झोंका उड़ती हुई साड़ी को हिलोर देता था। लोग मस्त हो गए। सुनाई पड़ा—

"झूम-झूम सुन्दरि इठलत अति, सुन्दर कुञ्जन में छबि छाजति,
चूम - चूम पल्लव - फूलन में, आज बसंत अनंत मनावति;

राधा कर श्रृंगार सखी - सँग बृंदावन में खोजन जावति,
बिरह - विकल सह जात नहीं, अब मुरली रहि रहि के लहरावति।
छम छम, छम-छम, तिटकत, गदि गन, थइया, थइया धुन छहरावति,
तिटकत थइया, गदिगन थइया, थइया-थइया, धा छवि छाजति।"

ताल फिर बढ़ने लगी। वायलीन और मृदंग की प्रतियोगिता हुई। पैंजनी की छम-छम से होड़ बँधी। दर्शक नाचने लगे। अधिकांश झूमते-झूमते निद्रा के अंक में समा चुके थे। बज गया रात्रि में दो।

तालियों की घोर थपथपाहट में नृत्य की अंतिम ध्वनि सुनाई न पड़ी। लोग उठने लगे।

स्वरूप बैठा रह गया। उससे उठा न गया। वह बेला के संसार से विदा हो जाने के बाद बहुत शान्त हो गया था। कहीं आता-जाता न था। बेला से वह प्रेम किया करता था, और उसकी शादी के लिये वही था प्रमुख उम्मीदवार। आज उसे बेला की जगह भरी मिली। उसे बेला राधा के रूप में, उसी घर में, आ मिली। कैसे? यह वह न जानता था, उत्सुकता भी कम न थी। यह कौन लड़की है? कहाँ से आई है? सेठजी के घर में कब से रहने लगी? इनकी कोई रिश्तेदार है? काश! यह मुझे मिल पाती, ऐसे ही विचार उसके हृदय में अँगड़ाई लेने लगे।

सब लोग चले गए। वह अकेला रह गया। ताल्लुक़ेदार साहब कार में बैठे। चल पड़ी कार एक ओर। सहसा उन्हें याद

आया। जाने स्वरूप भी है ? पर वह कहाँ था ? कार लौट पड़ी। तबलची-मृदंगी चले गए थे। बाक़ी दो लड़कियों ने अपरिचित दृष्टि से उसे देखा। शायद वह चाहती थीं कि ये हज़रत भी अब जायँ। पर वह अभी उसी नामालूम का ध्यान किए जा रहा था।

आँगन के एक कोने में जीने से नीली सैंडिल उतरती हुई दिखाई पड़ी। युवती नीचे आँगन में आ गई।

"सरूप ! तुम अकेले !! पिताजी कहा हैं ?" लता ने प्रश्न किया। सँभलते हुए स्वरूप बोल उठा—"नमस्ते माताजी !"

"पिताजी कहा हैं ? बेटा !"

"शायद चले गए हों।" फिर कुछ सोचकर—"यहीं होंगे कहीं।" कुछ सोच रहे हो बेटा ? क्या सोच रहे हो ? अब तो तुमने मेरे यहाँ आना ही बिलकुल छोड़ दिया।"

"जी, अब आया करूँगा।" कहते हुए वह फिर कुछ सोचकर लजा गया। लता समझ गई। मुस्कराई, अधर हिले, और फिर हँस पड़ी। दोनों हँसने लगे।

ऊषा पर्दे की आड़ में चली गई, और पर्दे के कोनों से झाँकने लगी। उसके हृदय में प्यार का एक नवीन अंकुर खिल उठा। वार्तालाप होती गई। स्वरूप हँस पड़ा। उसकी हँसी देखकर ऊषा भी मुस्कराई। मुस्कराहट में मुस्कराहट मिल गई। लता ने दोनो लड़कियों की ओर संकेत करके राधा को बुलाना चाहा। राधा आ गई। पर अब वह एक शरीफ़ ख़ानदानी लड़की की तरह गम्भीर थी। निगाहें कुछ झुकी हुई, भौंहें तनी हुई,

अधर हलकी गुलाबी में कभी-कभी सकुचा-सकुचाकर मुस्किरा जाते।

लता ने परिचय दिया—"ये हैं मि० सरूप, राय साहब बावनगढ़ के इकलौते पुत्र और युवराज। आप आधुनिक कला-प्रोडक्शन्स के डाइरेक्टर हैं। अवसर पाने पर आप हीरो का पार्ट भी कर लेते।"

फिर लता की ओर संकेत करके—"मेरी इकलौती बेटी बेला के बिदा लेने के बाद मैंने इसे ही अपनी बेटी समझा। मैं इसे बेला से भी अधिक चाहती हूँ।" दोनों ने नमस्ते किया।

परिचय देकर लता चली गई। दोनों लड़कियाँ भी अवसर देखकर खिसक गईं। रह गई ऊषा और स्वरूप।

एक नई मुलाक़ात थी। उजाली रात थी। दो दिलों की बात थी। अरमानों से अरमान टकराए। आँखों से आँखें मिलीं। दोनों में कुछ सकुच थी, कुछ झिझक थी। उत्साह भी था, परंतु लज्जा और संकोच से दबा हुआ।

"गाना आपका......" उसके स्वर में कम्पन होने लगा।

राधा ने संकोच से कहा—"जी !"

"जी ! मैंने कहा आप गाना तो बहुत अच्छा ..."

"जी नहीं, वह तो मैं बिलकुल नहीं जानती हूँ।"

"एक बात आपसे पूछूँ ?" स्वरूप ने साँस इकट्ठा की।

"चाय पी लीजिए, तब पूछिएगा।" राधा मुस्करा उठी।

स्वरूप को आश्चर्य हुआ कि इतने शीघ्र वह कितने

समीप आ सकती है। "चाय पी लीजिये।" मेरे प्रश्न का उत्तर उसने टाल दिया, और कह रही है—"चाय पी लीजिये।" आजकल की शिक्षा-प्रणाली भी तो ऐसी ही है। लड़कियाँ लड़कों के नाक-कान काट रही हैं।

"आप चुप क्यों हो गये। पूछिये, क्या पूछते हैं?" राधा ने हल्की मुस्कराहट से प्रश्न किया।

सरूप ने भी साहस इकट्ठा किया। बोला—"आप मेरे फ़िल्म-कम्पनी में हिरोइन बनतीं, तो क्या ही सुन्दर होता।"

"बस!"

"आपको शायद अनुमति न मिले?"

"क्यों?"

"मुझे संदेह है।"

"तो आप बाबूजी से कहकर उसे मिटा दीजियेगा।"

"हो सकता है। मैं कोशिश करूँगा।"

दोनो में वार्ताक्रम स्थापित हो चुका था। प्यार के द्वार खुल चुके थे। प्रेमांकुर निकल चुका था। उसे मधुर मिलन-जल से सिंचन करने की आवश्यकता थी। बाधा आई।

जूते की टपटपाहट की आवाज़ गूँज उठी। दोनो सँभल गये। जाते समय आँखों में आँखें तैरने लगीं। दोनो दो सख

एक दूसरे को देखते रह गये। राधा मुस्कराकर हट गई। ड्राइवर आ गया। सरूप साथ में चल दिया। कार-द्वार पर प्रतीक्षा में खड़ी थी। पिछली कोच पर सरूप के गिरते ही कार भर्राई और टेढ़ी-मेढ़ी सड़कों पर तैरती हुई पश्चिम-गेट की ओर निकल गई।

---

[१७]

सन्ध्या को दिल्ली में आये दो मास से अधिक हो गये थे। इन दिनों में उसका समय बहुधा चम्पा और उसकी सहेलियों के साथ कट जाता था। चम्पा संध्या से उम्र में कुछ महीने छोटी थी।

चम्पा सन्ध्या को जीजी कहा करती थी। सेकेंडियर में वह पढ़ती थी। सन्ध्या एम्० ए० के प्रथम वर्ष को लाँघ चुकी थी।

जाड़े के दिन थे। नवम्बर का महीना। परीक्षा के दिन आ रहे थे। चम्पा अच्छी हो चली। सन्ध्या उसे सुबह-शाम कुछ-न-कुछ बता दिया करती थी। पर पढ़ाई में शैथिल्य प्रधान हो रहा था। क्यों, यह सन्ध्या समझ नहीं पाती थी।

लेकिन एक दिन वह सब समझ गई। सारी वास्तविकता खुलकर उसके सामने आ गई। सन्ध्या को दुःख हुआ, चम्पा को ग्लानि।

राज छिपाये न छिपा। चम्पा के भीगे पलकों से दर्द के दो आँसू ढुलक पड़े। सन्ध्या ने उससे समवेदना प्रकट की।

उसे धीरज बँधाया और कमर कसने की हिदायत की। समवेदना के दो टूटे-फूटे शब्द चम्पा के चोट खाये दिल पर जादू-सा असर कर गये। वह प्यार से गद्गद हो गई। हर्ष-विषाद के एक-एक आँसू दोनो नेत्रों से ढुलक पड़े।

"घबराओ मत चम्पा! लेकिन यह तुमने अच्छा नहीं किया।" सन्ध्या रुँधे स्वर में हकला उठी। आगे कहती ही क्या? समय कुछ कार्य करने का था। सन्ध्या ने चम्पा को बार-बार समझाया। हरएक तरह से समझाया। वह डर रही थी उस तूफ़ान को, जो मुहब्बत के हर दरिया में एक बार बौखला कर आता है। न-जाने भोली चम्पा क्या करेगी? उसे चम्पा पर करुणा आ रही थी।

वह बार-बार इन शब्दों को दुहराती—"चम्पा! तुमने यह क्या किया?" चम्पा चुप थी। उसका पक्ष कोई भी न करता! उसके पास कोई जवाब नहीं था, लेकिन उसका कोई क़सूर भी तो नहीं था। क्या प्रेम करना पाप है?

क्या प्रेम करना इल्लीगल है? यदि है, तो किस क़ानून से? यदि ऐसा क़ानून नहीं है, तो उन चोट खाये दिलों पर बेरहमी से छींटाकशी करके यह ज़हर-बुझे नश्तर क्यों चलाये जाते हैं?

फिर यह तो कोई ऐसा कार्य है नहीं, जिसमें उसने कुछ क्रियाशील हाथ बँटाया हो। अपने आप हो जाता है। दिल

पर क़ाबू भी तो कोई पा सकता नहीं। और फिर यह तो ऐसा स्टेशन है, जिससे पास होकर सभी की जीवन-रेल गुज़रती है। क्या आजकल के चश्मेबाज़ वृद्ध अपने यौवन में संन्यासी बनकर तपस्या कर रहे थे? क्या उनके हृदय में उस वातावरण का प्रभाव नहीं पड़ता था, जिस पर प्रेम की दीवार बनती है।

हम इतिहास से दुष्यंत, उर्वशी, अर्जुन और कृष्ण-ऐसे अनेकों नर-नारियों के गंधर्व-विवाह और प्रेम की कथाएँ जानते हैं। ये लोग ऐसे थे, जो हमारे धर्म-ग्रंथों के हीरो रह चुके हैं, जो हमारे आदर्श थे। अब के समय में सिनेमा में हम हर रोज़ उसी तरह की एक कहानी देखते हैं, कॉलेज में उसी को साहित्य और मनोविज्ञान में पढ़ते हैं, और अपने जीवन में चोरी-छिपकर उसी का प्रयोग करते हैं। फिर यह कैसी रोक-टोक?

यह प्रयोग भी कैसा निराला है! कुछ लोग चश्मों के नीचे से, कोई खुले तौर से, कोई खिड़की में से और कोई बेचारा चपत खाकर। कार्य वही एक होता है, रास्ते अलग-अलग।

कोई खुला हुआ बादल होता है, कोई छिपा हुआ पानी। बरसते दोनों हैं। चम्पा हँस पड़ी। सन्ध्या को ठेस लगी। चम्पा फिर डूब गई—

इस छिपा-चोरी में, थोड़ा जान लेने के बाद, कितनी उत्सुकता

का आविर्भाव होता है! उसी उत्सुकता से लड़के कभी एकआध ग़लती कर बैठते हैं। कह नहीं सकती, और लड़कियों की ओर से यह प्रथम प्रयास में आ सकता है या नहीं। पर नियंत्रण दोनो ओर से होता है। फिर ये समाज के ठेकेदार बीच में टाँगें क्यों अड़ाते हैं। उनके भी तो दिन थे। उन्होंने क्या कम रास-लीलायें की हैं?

इसी क़िस्म के विचारों में चम्पा डूबती-उतराती रही। चम्पा का ध्यान टूटा। संध्या समझा रही थी। चम्पा चौंक गई, और ध्यान-पूर्वक सुनने लगी।

"चम्पा बहन! मुझे डर है, तू धोखा खाने जा रही है। आजकल के लड़कों का कोई एतबार नहीं है। वे आगे बढ़ते हैं। क्यों न बढ़ें? उन्हें तुम्हारी मस्त निगाहें, तुम्हारा रूप और तुम्हारा यौवन सहज ही में मिल जाता है। लेकिन जरा आज़मा के देखना, बाधा आते ही वे चुप्पी साध लेते हैं। प्रेम वह होता है, जो संसार के ऊपर पुल बाँध सके। ऐसों को संसार में मिलने से कोई रोक नहीं सकता। लेकिन चम्पा! ऐसा प्यार मिलता कहाँ है? बिरलों में ऐसा होता है। और आजकल के लड़के! लड़कियों को देखा कि लट्टू हो गये। मन में कल्पना करने लगे, झूठमूठ बकने लगे। जबरदस्ती प्रेमी बन बैठे। देख बहन! कुछ लोग प्रेम-गाथा गाया करते हैं। जिस लड़की से सम्बन्ध होता है, वह बदनाम हो जाती, और उन महाशयों के बारे में क्या कहा जाय? उनके बारे में जो कल्पना

हुआ करती है, उसके प्रतीक होते हैं कुछ शब्द, जिनका अर्थ होता है सनकी या पागल, पर थोड़ा उसे चमकाकर पहनाया जाता है। डॉक्टर, फिलॉस्फ़र और लवर इत्यादि शब्द ऐसे ही लोगों को सूचित करते हैं।

बहन, ऐसे डॉक्टरों, फिलॉस्फ़रों और लवरों से सावधान रहना। मुझे डर है, कोई लवर तुम्हारी ज़िंदगी में भी न कूद पड़ा हो। यदि ऐसा हो, तो उसे दूध में मक्खी की तरह से निकाल देना। संकोच मत करना। तुम न करो, तो यह कार्य मैं तुम्हारी ओर से कर लूँगी।"

चम्पा ने दीर्घ निःश्वास खींचा। सन्ध्या ने उसके नेत्रों में झाँका। चम्पा के अधर खुले। टूटे-फूटे शब्द रुँधे हुए गले को साफ़ कर निकल पड़े—"नहीं, दीदी। यह वह नहीं कर सकते। उनका प्यार सच्चा है। वह आत्मप्रवंचना नहीं कर सकते वह मेरे साथ धोखा नहीं कर सकते।"

"तो तुमको हमारी बात पर विश्वास नहीं है?"

"नहीं, जीजी! मैं क्या कहूँ। कैसे कहूँ? वह ऐसा कभी न करेंगे!"

"सोच लो, अच्छी तरह सोच लो। फिर कभी न कहना......"

"मैं खूब सोच चुकी हूँ। मेरा उनके ऊपर पूर्ण विश्वास है। मैं उनको कई बार आजमा चुकी हूँ।"

"मेरे कहने से एक बार और सही?"

"ज़रूरत क्या है ?"

"ज़रूरत है। तू रस्सी न पकड़कर साँप पकड़ रही है, यह मैं तुझे बताए देती हूँ। यह मेरी अन्तिम सलाह है। वह कैसे हैं, अब सामने आ जायँगे।"

दूसरे दिन प्रातःकाल आठ बजे एक दुबले-पतले सज्जन सूट-टाई में चमकते-दमकते गेट पर आकर खड़े हो गये। प्रहरी ने रास्ता दिया। बाबूजी दाखिल हुए। चम्पा आई। रूठकर सामने बैठ गई। गिरीश बाबू ने चापलूसी करनी शुरू कर दी। चंपा मग्न हो गई। खुश होकर हँस पड़ी, और हँसकर उछलने लगी। आज उसे गिरीश एक सप्ताह के बाद मिला था। खुश क्यों न हो ?

सन्ध्या शांति से हँसी-ठट्ठे के बीच आ गई। सब लोग चुप हो गये। सन्ध्या ने संकेत किया। चम्पा पास खड़ी हो गई। इशारा पाते ही वह बग़ल के कमरे में से झाँकने लगी।

सन्ध्या बैठ गई। गिरीश में उत्सुकता ने एक लहर खींची। नये अरमानों ने अँगड़ाई ली। वह कुछ देर तक सन्ध्या की शांत, सुन्दर छवि को देखता रहा। सन्ध्या ने पलकों को ऊपर उठाया। भौंहों को ताना और कटाक्ष से उसकी ओर एक बार देखा। अब क्या था ? नवयुवक का हृदय तीन फ़ीट उछल पड़ा। सन्ध्या और गहरे में गई। उसने एकआध बार मुस्कराकर देखना भी शुरू किया।

युवक ने अपनी कोच थोड़ी सरकाई। सन्ध्या ने उत्सुकता से उसकी ओर कर्ण एकाग्र किया। वह धीरे से बोल पड़ा—"जी! मैं आपका नाम..........."

"कहिये।" सन्ध्या ने उसे हिम्मत बँधाई।

"यही कि......मेरा मतलब है, आपका शुभ नाम क्या है?"

"उससे आपका क्या सम्बन्ध?"

"जी, कुछ नहीं। कुछ नहीं, मैं तो यों ही आपसे......"

"नाम है सन्ध्या। और कुछ पूछना है? आप तो शरीफ़ घराने के मालूम पड़ते हैं?"

यह जुलाब शरीफ़ आदमी के लिये कम न था, पर उसे एक नई कहानी मिल रही थी। भला छोड़ता कैसे? तुरंत कहने लगा—"कितना सुन्दर नाम है! कितना प्यारा! काश! मेरे जीवन में भी एक ऐसी ही लड़की आती, जिसे मैं सन्ध्या! सन्ध्या! कहकर पुकारा करता।"

सन्ध्या के मन ने कहा कि वह उसे फटकार दे, परंतु उसने आत्मसंयम से काम लिया। वह और अधिक बन गई। बोली—"काश मेरी भी क़िस्मत में किसी आप-जैसे से प्यार होना होता।"

"सच! तो हम दोनों एक ही रोग के बीमार हैं। साथ-ही-साथ एक दूसरे की मरहम-पट्टी भी। तुम मेरी ज़िन्दगी में अभी तक क्यों न आईं?"

"मैं तुम्हारा इंतजार किया करती थी।" सन्ध्या ने और बनकर कहा।

गिरीश उठकर खड़ा हो गया। दरवाजे से उसने दूर तक झाँका, फिर टहलता हुआ आकर सन्ध्या के पीछे खड़ा हो गया। सन्ध्या से रहा न गया। उसने दो क्षण और आत्मसंयम में दिए। इन्हीं क्षणों में गिरीश ने सन्ध्या के कन्धे पर हाथ रख दिया। हाथ रेंगता हुआ गले में लिपट गया। सन्ध्या अब तक चुप रह गई। दो उँगलियाँ गाल की ओर भी खिसकने लगीं। उसने अपना सारा हाथ सन्ध्या के सिर और गले में एक बार फेर डाला।

सन्ध्या चुपचाप उठी, और अन्दर चली गई। देखा, तो चम्पा का मुख सूख गया था। गाल पीले पड़ गये थे। आँखें ऊपर को उलट गई थीं। अधरों में झाग लगा हुआ था। केश बिखर गये थे। प्रश्न उठा—क्या यह बेहोश हो गई है? दाँत देखा। सब मिले हुए। पानी छिड़कने से चम्पा हिली, और उठकर बैठ गई। चेतनावस्था में आते ही वह घबरा गई। चाहती थी पुनः बेहोश हो जाना। सारे संसार को भुला देना चाहती थी, परंतु संसार उसे कैसे छोड़ता?

सन्ध्या समझ गई। युवक थोड़ा रुककर चला गया। सन्ध्या ने देखा, चोट गहरी है। समझाने से ही काम न चलेगा। वह तुरंत ताँगे पर बैठकर उसके घर पहुँची। गिरीश बाबू बाहर

आये। नमस्ते हुआ। दोनो जने अन्दर गये। वार्ता-क्रम शुरू हुआ। सन्ध्या गम्भीर हो उठी।

युवक ने विश्वास दिलाते हुए कहा—"मैंने जब से आपको देखा है, बिलकुल सुध-बुध खो बैठा हूँ। हर समय आपका नाम रटा करता हूँ। आपके दर्शनों की प्यास से तड़फता रहता हूँ। मैंने अभी-अभी आपके नाम पत्र लिखकर तैयार किया था।"

"पत्र !"

"जी हाँ। घबराने की इसमें क्या बात है। मैं अपने पत्र के लिये खुद ही पोस्टमैन बन जाता। पत्र आपके हाथों में दे आता।"

"तो, लाइए मेरे पत्र। अब आपको पोस्टमैन न बनना पड़ेगा।"

नवयुवक ने सात-आठ पेज का एक पत्र लाकर रख दिया। सन्ध्या ने परत कर उसे हैंडबेग में रख लिया।

बाहर ताँगा खड़ा था। सन्ध्या आई। गिरीश ताँगे तक आया। टप-टप करता हुआ ताँगा चम्पा के घर की ओर चल पड़ा।

घर पहुँचते ही सन्ध्या ने वे सारे पत्र चम्पा को दिखा दिए। चम्पा को विश्वास हो गया कि उसका गिरीश धोखेबाज़ निकल गया। ऐसे न-जाने कितने गिरीश धोखेबाज़ और पड़े होंगे।

समाज में ये गिरीश कितने खतरनाक होते हैं, इसी पर विचार करते-करते सन्ध्या और चम्पा रजाई में सो गईं।

चम्पा सुबह जगी। सन्ध्या उदास थी। उसको घर से आये चार-पाँच माह बीत चुके थे। अब उसका जी ऊबने लगा। ऊषा का कुछ हालचाल नहीं मिला था। उसने विनोद को एक पत्र लिख दिया। चार-पाँच दिन के बाद वह खुद भी चल पड़ी। चम्पा रो पड़ी। लड़कियाँ उदास हो गईं। घर में सूना-पन छा गया। सन्ध्या चली गई।

---

[१८]

सन्ध्या के चले जाने के बाद दीपक और शशि का सम्पर्क बढ़ने लगा। दीपक के सुनसान संसार में समवेदना के स्वर शशि की ओर से आकर दीपक तक पहुँच जाया करते थे। वह समवेदना कैसी थी ?

धीरे-धीरे शशि दीपक से घुलमिल गई। दीपक को शशि के बिना अच्छा नहीं लगता था। बहुधा वह सारे किवाड़ों को बन्द कर उपन्यास लिखा करता था। परंतु शशि के आते ही वह मन्त्र-मुग्ध हो जाता था। शशि इसको जानती थी। दोनों एक दूसरे से प्रेम करते थे। पर यह प्रेम भी अजीब था।

समवेदना के झरोखे खुले थे। उसी में से शशि ने प्रवेश किया, और प्रेम-मंदिर के भीतरी द्वार पर पहुँच गई। पर उसके आगे वह बढ़ न पाती थी; इसका अनुभव उसे हो चला था।

प्रेम की लहर में दौड़ती हुई वह दीपक के दुखी जीवन

में पहुँच गई । पर अन्दर जाकर, उसे एक ऐसा बाँध मिला, जिससे वह टकरा-टकराकर पीछे लौट पड़ी । आगे नहीं बढ़ सकी ।

चार बजे शाम को शशि आ गई । दीपक प्रतीक्षा कर रहा था । द्वार खुले थे, शशि जीने से ऊपर चढ़ आई । दीपक ने स्वागत किया । इशारा पाते ही शशि कोच पर बैठ गई । कमरे में इधर-उधर दृष्टि फेंकी ।

सारे हैंगर एक कोने में खाली पड़े थे । सूट कमरे में बिखरे पड़े थे । एक पैंट जमीन पर पड़ा था । तीन क़मीजें और एक बुशर्ट एक ही खूँटी पर लदी हुई थीं । अस्तव्यस्तता चारो ओर बिछी हुई थी । एक खूँटी पर माला टँगी थी । उसके नीचे ताक़ पर विष्णु की चतुर्भुजी मूर्ति, जो धूल से ढक गई थी, रक्खी हुई थी । चद्दर, तकिया और कुछ किताबें एक क़ालीन पर फ़र्श के ऊपर रक्खी हुई थीं । मेज पर टेबुल-लैम्प, सारी पुस्तकें, कपड़े, कन्घे, शीशियाँ एक ओर छितराई पड़ी थीं । एक छोटी मेज पर सिगारदान रक्खा था—खाली । व्यंजन इधर-उधर पड़े हुए थे, शशि ने सब कुछ बड़े ग़ौर से देखा ।

शशि को अकेली छोड़कर दीपक बाजार चला गया । शशि को अच्छा अवसर मिला । उसने उठकर खूब जाँच पड़ताल की । छत पर दालान में चारो ओर घूमती रही । सब ओर से लापरवाही और अस्तव्यस्तता झलक रही थी ।

नारी का हृदय पिघल गया। उससे न रहा गया। दीपक के आने के पहले ही उसने सारी पुस्तकें मेज और आलमारी में लगा दीं। क़ालीन और चादर को ठीक से बिछा दिया, सारे सूटों को हैंगर में रख दिया। दो-चार, जिनकी जरूरत नहीं थी, उनको बक्स में रख दिया। ताले सब बक्सों के खुले हुए थे। उसे यह लापरवाही देखकर हँसी आ गई। कुछ देर तक वह कक्ष में टहलती रही। कमरे में झाड़ू छुट्टी के ही दिन कभी लगा हो। हफ्तों की गर्द जमी थी। शशि ने अपनी साड़ी समेटी, काम में जुट गई। दो क्षण में कमरा झलकने लगा।

दीपक आते ही दंग हो गया। पर कहता क्या! अपनी लापरवाही पर लजा गया। शशि के अधरों में मुस्कराहट खिंची। दीपक की आँखों में संध्या नाच गई। काश, मेरी सन्ध्या यहाँ होती! पर वह चली गई। अब न मिलेगी।

दीपक क्षण-भर में दुःखी बन गया, विचारों में डूब गया। शशि घबड़ा गई। दीपक मुस्करा उठा। वार्तालाप धीरे-धीरे शुरू हुआ।

"आपने वृथा इतना कष्ट उठाया? मैं बहुत शरमिंदा हूँ।"

"यह तो मेरा कर्तव्य था, सो मैंने किया। लेकिन यदि आप रोज-रोज चाहें……"

"नहीं-नहीं, शशि! इन छितराये हुए टुकड़ों को सजाने की कोशिश न करो।"

"क्यों? आपको कोई एतराज़ है?"

"ठीक है। पर इन बिखरे हुए टुकड़ों को साज-शृंगार शोभा नहीं देता, ये बिखरे हुए ही रहें, तो अच्छा हो।"

"आप ऐसा क्यों कहते हैं?"

"एक दिन तुम आकर सँभाल दोगी। कल कौन आयेगा। मेरी आदत ख़राब करने की ठान ली है क्या? एक तो देखती ही हो कि मैं कितना अधिक लापरवाह हूँ, तुम थोड़ा और बना दोगी।"

"आप चिंता मत कीजिये। मैं रोज़ इसी समय आकर सब ठीक कर दिया करूँगी।" वार्तालाप यों ही चलता रहा।

उस दिन के बाद से शशि नित्य आती और दीपक से मिल-कर चली जाती। इस मिलन में दोनों को ख़ुशी होती थी। वे बहुधा प्रतीक्षा भी किया करते थे।

एक दिन दीपक राह देख रहा था। शाम का समय था। अंधकार हो चला था। दीप जल रहे थे। दीपक ने चप्पल पैर में डाला और चल पड़ा एक ओर। एक अनजानपन की ओर—। उसके पैर शशि के द्वार पर जाकर ठिठक गये। प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी।

शशि मुस्कराती हुई आ गई। घर में चर्चा छिड़ी। शशि भीतर चली गई। दीपक बाहर खड़ा रहा। उसे सुनाई पड़ा—

"यह हमारी युनिवर्सिटी का बड़ा अच्छा लड़का है, डैडी! पढ़ने में बहुत तेज है, और मुझको एकदम सगी बहन-सी जानता है।"

दीपक का भ्रम दूर हो गया। वह अब शशि से सदा खुलकर बातचीत किया करता था। दोनों एक दूसरे को अवसर पड़ने पर भाई-बहन कहकर पुकारा करते थे।

युनिवर्सिटी वह शशि को साथ लेकर जाता था। साथ में लेकर ही वापस आता था। घर में दीपक का बड़ा मान था। शशि की मा बड़ी सुशील थी। दीपक उसको भला लगा, इसीलिये उसके पहुँचते ही चाय-पकौड़ियों का ढेर लग जाता था। कभी-कभी वह शशि के घर पर पढ़ता-पढ़ता सो जाता था।

क्लास में दोनों आमने-सामने बैठा करते थे। दोनों कभी-कभी क्लास में भी बातचीत कर लिया करते थे। पढ़ने में किसी का दिल नहीं लगता था, अफ़वाह उड़ी। शशि के घर तक पहुँच गई। लड़कियाँ कब चूकनेवाली थीं। डैडी थोड़ा नाराज हुए, पर दिखावटी। वह दीपक को जानते थे। वह जानते थे, दीपक की ओर से उन्हें किसी तरह का नुक़सान मुमकिन नहीं है, इसीलिये उन्होंने दोनों को छूट दे दी थी। लोगों का कानाफूसी करना उन्हें बिलकुल पसन्द न था। इसको रोकने के लिये उन्होंने चुग़लख़ोरों को फटकारा। जनता ख़िलाफ़ हो गई। उन्हें शशि को भी थोड़ा रोकना पड़ा।

"शशि! तू समझदार है। लोग इधर-उधर कान भरते हैं। दीपक का ज्यादा साथ मत कर।"

"डैडी ! ये आप क्या कहते हैं ? काश……!"

"मुझे सब कुछ मालूम है, मेरी बच्ची ! पर लोग…।"

"आप भी लोगों से डरते हैं ? पिताजी ! मुझे मालूम न था।"

डॉक्टर साहब कड़क उठे—"चुप रहो। एक बार समझा दिया, समझा दिया। अब कुछ होगा, तो तुम जानो।"

डॉक्टर साहब चले गए। शशि का हृदय कसक उठा। उसके हृदय में एक टीस उठी। एक मीठा-मीठा दर्द हुआ। तुरंत ब्लाउज बदलकर वह बाहर आ गई, और चप्पल खटकाती हुई पैदल चल पड़ी।

चोरी-छिपके मुलाक़ातें होने लगीं। इन मुलाक़ातों में शशि की ओर से एक मूक संवाद-सा आया करता था। दीपक के चिंतन का विषय भी हो जाता, परंतु वह हँसकर टाल देता—भैया जो बन चुका था। चाँदनी रातों में दीपक और शशि टहलते हुए दूर तक चले जाते थे। कभी साथ-साथ में युनिवर्सिटी से लौटते और रास्ते में मैटिनी शो की सोची जाती। दोनो की रुचि थी, दोनो को उत्सुकता। उनके जीवन के अधिकांश प्रहर छिप-छिपकर साथ में कट जाया करते थे।

अनजान में एक बिजली दीपक के हृदय में रेंग रही थी। उसे उसकी गुदगुदी मालूम पड़ती थी। उसके जीवन में परिवर्तन हो रहा था। उसे शशि के बिना अच्छा नहीं लगता था।

शशि का तो कहना ही क्या ? बेचारी हर समय भैया की

आस लगाए बैठी रहती थी। दोनो मिलते ही खुशी से उछल पड़ते थे।

अँधियारा पक्ष आ गया। सावन-भादों की रात्रि थी। नाव की सैर करना था। युनिवर्सिटी में ही तय हो चुका था। नाव शाम ही को ठीक कर ली गई।

सरिता का गहरा हरा जल हवा के झकोरों से उछल जाता था। अँधेरी काली रात्रि छाई हुई थी। कहीं-कहीं पर अंधकार में पेड़ों की एक हल्की-सी छाया मिल पाती थी। छत्रमंजिल के ऊपर की नीली-लाल बिजलियाँ पानी में जगमगा रही थीं। दूर—आकाश में तारे टिमटिमा रहे थे। सहसा एक तारा टूटा, और आकाश में तैरता हुआ एक ओर को निकल गया।

भयानक शांति छाई हुई थी। दीपक शशि को टटोलने लगा। शशि आकर समीप बैठ गई।

"शशि! तुम्हें कुछ दिखाई पड़ता है? कितना अंधकार छाया है!"

"अंधकार! सामने देखो प्रीति के दीपक जगमगा रहे हैं। ऊपर जोन्हियाँ खेल रही हैं। प्रीति की डोंगी तैरती हुई चली जा रही है। अंधकार कैसा?"

दीपक चुप हो गया। वह मतलब नहीं समझा।—"प्रीति की डोंगी!" वह सोचने लगा—"तो क्या यह मुझसे प्रेम करती है?" विचारों में वह उलझ गया। फिर मन-ही-मन में प्रश्न का समाधान हो गया। वह फिर जागा।

पर शांति छाई रही। शशि उठी। दीपक की बग़ल में बैठ गई। दीपक के हृदय में उत्सुकता की एक लहर उठी, गुदगुदी का एक स्रोत उमड़ा, और प्यार का एक स्वप्न उठ खड़ा हुआ। वह दो क्षण भाई-बहन के शब्दों को भूल गया। स्वभाव का बनावटी आवरण हट गया। वास्तविकता खिलकर नाच उठी। शशि का स्वप्न पूरा हुआ। वह आनन्द-मग्न हो गई। उसने अपने शरीर को ढीला कर दीपक के हाथों में सौंप दिया। दीपक जान या अनजान में उसकी ओर बढ़ने लगा। उसने शशि को भुजा-पाशों में बाँध लिया। शशि ने गहरी चुप्पी साधी। उसने अभिनय किया, जैसे उसे नींद आ गई हो।

दीपक की लव फड़फड़ाने लगी। उसका तेज क्षीण होने लगा। हृदय में भँवरें उठने लगीं। उन्हीं भँवरों में नाव चक्कर खाने लगी। शशि एकाएक चौंक उठी। नाव भँवर में फँस गई थी। चक्रवाल में दोनो डूबने लगे।

"यह क्या?" उसने प्रश्न किया।

"घबराओ मत।" उत्तर मिला।

"नाव को छोड़ना मत। दीपक! साथ मत छोड़ना। नाव डूब रही है। दीपक, तुम बच जाओ!"

रात्रि के निविड़ अंधकार में एक चीख़ उठी—"दीपक! बचाओ।"

नाव चक्कर लगाती गई। नाव डूबती गई!! दीपक की

आँखों के आगे संध्या की शकल आकर खड़ी हो गई !!! सुनाई पड़ा—"दीपक ! क्या तुम बुझ गए ?"

उसके अधर हिले—"नहीं संध्या ! तुम्हारे लिये मैं ऐसे ही सदा जला करूँगा। बुझ भी जाऊँगा, परंतु तुमको देखते ही मेरी लव भभक उठेगी।"

पर शशि का क्या हो ? दीपक ही को बचाना था। उसने शशि का हाथ पकड़ लिया। गोद में उठाकर सरिता में भँवर से दूर फेंक दिया। दीपक भी उछलकर कूद गया।

शशि बच गई। दीपक भी बच गया। भीगे कपड़े ! कोई देखता, तो क्या कहता ?

दीपक शशि की ओर, शशि दीपक की ओर बढ़ने लगी। दोनों के हाथ लपके। संध्या ऐसे ही समय आ जाया करती थी। दीपक सँभल जाता था। शशि खो जाती थी।

शशि के न रहने पर सन्ध्या बराबर स्वप्न बनकर दीपक के पास आ जाया करती थी। ऊपर एक नीला आकाश। नीचे दोनों एक दूसरे की ओर लपकते थे। परंतु बीच में थे मकान, शहर और दीवारें।

दोनों बालू में पटकी हुई मछली की तरह से तड़प-तड़प-कर रह जाते थे। बेचारी शशि को कुछ पता न था। वह भी एक चाल खेल रही थी।

परंतु वह दीपक के हृदय तक नहीं पहुँची थी। दीपक के

खोएपन को वीराने और सूनेपन के कारण ही समझा करती थी।

शायद उसने सोचा कि नारी का अंचल इस टिमटिमाते हुए लव को बुझने से बचा सके। अब वह अपने को दीपक से दो क्षण भी अलग नहीं रख सकती थी। वह अधीर हो उठी थी। और फिर······।

---

[१९]

ऊषा फ़िल्म में आ गई। उसे हीरोइन का पार्ट मिला था। उसकी उत्सुकता में बाढ़ आ गई थी। पिक्चर का नाम था—'आकाश के फूल'। सारे शहर में राधा की चर्चा चल रही थी। लोगों को आशा थी कि राधा निकट भविष्य में सबसे अधिक बढ़ जायगी। उसे से बैक की भी आवश्यकता नहीं थी, स्वयं गा लेती थी। नृत्य में तो वह सबके दिल में नाचा ही करती थी। राधा की लोकप्रियता बढ़ने लगी।

समाचार-पत्रों में उसके चित्र निकाले गए। राधा की फ़ोटो को लोग घरों में टाँगने लगे। टेबुल पर रखने लगे। पिक्चर लखनऊ में गर्मी की छुट्टियों के बाद जुलाई में आया। विनोद अपने साथियों को लेकर फ़र्स्ट शो में पहुँचा।

कुछ रील इन्डियन न्यूज़ रिव्यू के चलते रहे। जवाहर-लालजी का विदेश-यात्रा और खाद्य परिस्थित के बारे में देश-भ्रमण इत्यादि दिखाया जाने लगा।

उसके बाद 'माँझी' का एक ट्रेलर आया। मार, उछल-कूद, रोना-गाना, सब एक के बाद एक-एक करके आने लगे। "पिक्चर

अच्छा मालूम होता है।" किसी ने कहा। पास के सज्जन ने कहा—"ट्रेलर से क्या होता है? पिक्चर आए तब देखना।"

एक ने कहा—"पहले जिसे देखना हो, उसे देखो, फिर...।"

मोटे-मोटे अक्षरों में आ गया—'आकाश के फूल।' लोग प्रसन्न हो गए। धुन चलती रही। आरकेस्ट्रा अति मधुर लगता था। चल-चित्र का आरकेस्ट्रा के साथ समन्वय में एक ऐसी झलक उठती थी, जैसे किसी सरिता की तरंगों में पल्लव तैर रहा हो। दोनों झूम-झूमकर आगे बढ़ते थे। शांति छा गई।

अभिनेत्रियों के नाम एक-एक करके आने लगे। विनोद असमंजस में पड़ गया। क्या उसे धोखा हो गया? पहला नाम था राधा का, शकल थी ऊषा की। वह घबड़ा गया। आजकल कॉलेज में राधा के बारे में बड़ी चर्चा हो रही थी। पर देखा किसी ने भी नहीं था। राधा को देखने पर बहुतों की उत्सुकता बुझी, पर हृदय में अशांति पैदा हो गई।

अशांति से मानव थोड़ा घबड़ाता है, पर उसके बिना शांति भी तो नहीं हो सकती। दोनों का एक में समन्वय है। वे एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते। शांति में सुख है, तो अशांति में जीवन। अशांति में ही मानव संघर्ष करता है। अशांति में ही भविष्य की झलक रहती है। ऐसे ही समय पर मानव में अंतर्द्वंद्व उठता है। वह संघर्ष के लिये कटिबद्ध तैयार हो जाता है।

विनोद भी तैयार हो गया।

पिक्चर शुरू हो गया। प्रातःकाल—ऊषा की लालिमा। पल्लवों में से छनकर रवि किरणें रक्तिम आभा में मुस्किरा रही थीं, पर इस मुस्कराहट में थी—मधुर शांति। दूर एक पहाड़ी से मुरली की ध्वनि गम्भीर भैरव में लहरा जाती थी। हरे-भरे खेतों में गाँव की लड़कियाँ घूम रही थीं। ऊषा के पैर छम से बोले। सूर्य उठने लगा। झूम-झूमकर ऊषा नाचती हुई दूर निकल गई। पीछे-पीछे गाँव की लड़कियाँ भी चलती गईं। गायन होता गया—

मिलन का संदेशा आया।
झूम उठे हरियाली;
नाच उठे फुलवारी।
दूर पपीहा मुसकाया;
मिलन का संदेशा आया।

गले की लोच भी क्या चीज होती है! और फिर दर्द से उसका मिलाप!!

ऊषा आज विनोद के आगे नाच रही थी, पर वह उसे देख नहीं सकता था। मिलकर भी मिल नहीं सकता था। मिलन हुआ, पर कोरी छाया से! दर्शक लोग मस्ती में झूमने लगे। लोग सिर हिलाने लगे। गाना और रुनझुन चलता रहा। सौंदर्य-सरिता बहती रही।

विनोद उठकर खड़ा हो गया। पिक्चर के बाहर आ गया। वह मन के वेग को न रोक सका। उसके हृदय पर सहसा

बिजली गिर गई थी—"ऊषा ! तुम कहाँ हो ? मैं तुमको खोज रहा हूँ।" मुख से शब्द निकल पड़े।

"विनोद, तुमने मेरे साथ बड़ा जुल्म किया है, इसीलिये तुम थोड़ा मेरे पीछे परेशान होगे।" उसे सुनाई पड़ा।

वह इधर-उधर परेशान होकर देखने लगा। आस-पास कोई न था। वह लौटकर, कर्टेन हटाकर अपनी सीट पर बैठ गया। पिक्चर चल रही थी।

सरूप का पार्ट था। विनोद में जलन पैदा हुई, पर उसे वह उस समय दबा गया। वह कुछ देर और देखता रहा। ऊषा का बार-बार उसके सामने आना, और आँखों के आगे ही चला जाना उसके हृदय में उदासी की फूँक मार जाता था। सुनाई पड़ा—

"प्रीतम ! मैं तुम्हें खोजने के लिये हैरान थी। मैं तुम्हारे पीछे बहुत भटकी, लेकिन तुम मुझसे दूर होते गए, और आज......" कुछ देर चुप होकर—"आखिर मैं, जब तुम मुझे न मिले, मैं उस ओर जा रही हूँ, जहाँ हम दोनो को अंत में मिलना है। तुम आओगे न ? प्रीतम ! भूलना मत।" वह मुस्किरा पड़ी। मुस्किराहट में आँसू के बूँद ढुलककर हृदय के अंतरिक्ष से होते हुए एक अनजान प्रदेश की ओर चले गए।

दर्शकों की आँखों में से एक-एक आँसू हर्ष-विषाद के निकल पड़े। ऊषा आज रो रही थी। विनोद के आगे रो रही थी। वह उसकी खोज में था, पर वह उससे मिल नहीं सकता था। वह

उसके लिये कुछ करके अपने कलंक को धोना चाहता था। वह उसे अपना हृदय सौंपकर सच्ची मुहब्बत की ओर बढ़ना चाहता था, पर उसे पा नहीं सकता था। यह विरह असह्य था, परंतु होता क्या ?

कहानी चलती रही। ऊषा से रंजन प्रेम करने लगा। रंजन उसके पीछे बेक़रार बनकर घूमता रहा। एक दिन वे मिले।

दोनो के अरमानों ने अँगड़ाई ली। मिलन के गीत गाए गये, और फिर......।

संध्या की वेला, सरिता के तट पर कुंजरायन से थोड़ा हटकर ऊषा खड़ी हो गई। ऊषा का संसार में कोई न था। रिक्त संसार में ऊषा भटकती रही। हँसी-ख़ुशी का जीवन यों ही बीत गया। वह पागल हो गई। अपने को आज वह रोक न सकी। नदी हुंकार कर उठी। वह आँख मूँदकर कूद पड़ी। तैरती हुई कुछ दूर तक चली गई। अब आगे जाकर क्या होगा ? वह नीचे धँस गई। जल ने एक बार उसे फिर उछाला। इस पार रंजन चिल्लाकर कूद पड़ा। वह जल्दी से हाथ पैर फेंकता हुआ आ गया। ऊषा ने भी बढ़ने का प्रयास किया। दोनो !......

जनता में उत्सुकता बढ़ी। सबने संतोष की एक साँस ली।

दोनो ने एक दूसरे को पा लिया। ऊषा ने हाथ-पैर ढीले कर दिए। वह पानी से दूर जाकर संसार में फिर आशा और निराशा के मध्य भटकना नहीं चाहती थी। उसने रंजन को बाहुपाशों में जकड़ लिया। दोनो डूबने लगे। रंजन घबड़ा

गया। उसने ऊषा के हाथों से अपने को छुड़ा लिया। वह भग चला! ऊषा! अकेली रह गई!! बेचारी उषा...!!! आज वह डूब गई। संसार ने उसको डुबो दिया। समाज ने उसको डुबो दिया। "और वाह रे रंजन! तुम्हारी मुहब्बत भी क्या रही? धोखेबाज़!" जनता ने उसे देखकर नाक-भौं सिकोड़ी।

ऊषा तरंगों में सदा के लिये खो गई। रंजन मनोरंजन में भूल गया। आगे कहानी बढ़ती गई, लेकिन विनोद की कहानी यहीं खत्म हो गई थी।

वह फ़ौरन् बाहर आया। ताँगे से घर गया। कुछ रुपए लेकर वह तुरंत स्टेशन की ओर चल पड़ा। गाड़ी छूट गई थी। यह समय रुकने का न था। वह रेल की पटरियों के सहारे पैदल चल पड़ा।

रात्रि का समय था। अँधियारा छाया था। उसी में वह सात मील निकल गया। आ गई अमौसी। वह दो क्षण रुका, फिर चल पड़ा। कहीं मेढकों का टर्र-टर्र, कहीं झिल्ली की झनकार, और कहीं-कहीं पर सर्पों की चीख सुनाई पड़ रही थी, पर यह उस संसार में था, जिसके पार विनोद कभी पहुँच चुका था। अब संसार में वह ऊषा को ही देख पाता था। उसे कोई भय नहीं था। शून्य संसार में वह प्रेमांध बनकर भटकने लगा। सामने से एक गाँव का चौकीदार पगड़ी बाँधे, लाठी और लालटेन लिए पटरी उस पार चला गया। प्रकाश में विनोद को थोड़ी आसानी हुई। वह और जल्दी-जल्दी चलने लगा। रात भर गई थी, पर यह आराम करने

का समय न था। वह चलता गया। एकाएक उसे याद हो आया कि अमौसी में उसे हवाई जहाज़ मिल सकता था। वह लौट पड़ा। एयरोड्रोम सीधे जाकर उसने जहाज़-संचालक को बम्बई चलने की आज्ञा दी। विचारों के तूफ़ान में विनोद उड़ता हुआ चला गया। एयरोड्रोम से विनोद को टैक्सी न मिल सकी। पैदल ही वहाँ से शहर में पहुँच गया।

बम्बई में वह इधर-उधर भटकता रहा। तीसरे दिन उसे ऊषा का सब हाल-चाल मालूम हो गया। ऊषा एक फ़िल्म-ऐक्ट्रेस थी, एक फ़िल्म-स्टार। जाने वह विनोद को अब पहचानेगी। पर उसे परवाह न थी। वह पागलों-सी दाढ़ी बढ़ाए, रूक्ष चेहरा लिए सेठ तिकड़मीलाल की कोठी पर पहुँच गया।

"कहाँ से आए हो ? कौन हो तुम ?" चौकीदार ने लाठी सभालते हुए कड़ककर पूछा।

विनोद को क्रोध आ गया, पर वह उसे पी गया। उसने एक रुपया ठन से बजाकर चौकीदार को दे दिया। चौकीदार ने रास्ता दे दिया। घर में किसी ने आवभगत न की। करता कौन ? ऐसे मुसंडे मैले कपड़ों में बम्बई की सड़कों पर घूमा ही करते हैं। कोई आ गया होगा ? यही भावना सबके हृदय में एक बार आ जाती थी।

ऊषा एक हाथ में हैंडबेग लेकर कहीं से आ गई। सीढ़ियों पर चढ़ते समय उसने देखा कि सामने एक सुन्दर युवक टहल रहा है। कपड़े मैले थे, उसने कोई ध्यान न दिया।

विनोद देखकर हट गया। एक बार चौंका, फिर परेशान होकर देखने लगा। आँखों में धूप का चश्मा, अधरों पर लिपस्टिक की लाली, केश घुँघराले होकर नाच रहे थे। पीली, रेशमी साड़ी लपेटे वह बाहर से आई, और चपला की तरह चली गई।

वह आगे बढ़ गया। आवेश का एक तूफ़ान आया। उसने पुकारा—"जी, सुनिए।"

पर सुननेवाला वहाँ पर होता, तब तो ?

राधा कमरे से निकलकर ड्राइंग-रूम में आकर बैठ गई। सेठ तिकड़मीलाल से न रहा गया। कड़ककर बोले—"कौन हो तुम ?"

"परदेसी हूँ, सेठजी—परदेसी।" उत्तर मिला।

"यहाँ क्या कर रहे हो ?"

"नौकरी की तलाश में हूँ।"

"यहाँ कोई नौकरी नहीं मिलेगी। भाग जाओ।" कड़कते हुए सेठजी बोल पड़े।

विनोद ने एक बार सेठजी को घूरकर देखा।

"आँखें क्यों फाड़-फाड़कर देखता है ?" सेठ ने क्रोधावेश में कहा।

विनोद लौट पड़ा। राधा इतने में आ गई। बोली—"पिताजी, क्या बात है ? यह कौन है ?"

"कोई नहीं, बेटी ! एक आवारा मालूम पड़ता है। तुम जाओ।"

"नहीं, पिताजी ! आदमी तो शरीफ लगता है । ग़रीब जरूर लग रहा है। और, यदि आवारा भी है, तो बड़ा अच्छा है।"

"यह क्या बकती हो ? राधा ! तुम पागल तो नहीं हो गई हो ?"

उसने पिताजी को संकेत से बुलाया । कान में धीरे से कहा—"इसे हमारे सिनेमा में काम दे दीजिए। हमें एक आवारा का पार्ट कराना है। खोजना नहीं पड़ेगा।"

सेठ तिकड़मीलाल मुस्किरा उठे । बोले—"अच्छी बात है। अब तो तू काफी होशियार हो गई।" गम्भीर होकर—"लेकिन यह आवारा मालूम होता है।"

"तो क्या ? मैं इसे देख लूँगी । यह मेरा कुछ नहीं कर सकता, पिताजी !"

सेठजी मुस्किराते हुए चले गए। युवक ने मुड़कर राधा को देखा। उसकी आँखों में एक कहानी छिपी हुई थी, उसकी दृष्टि में एक वेदना !.........जान पड़ता था, वह कह रहा है—"तुमने मुझे ठुकरा दिया। मैं तुम्हारे प्रेम में पागल बनकर आया, और अब चिता की राख बनकर उड़ जाऊँगा, लेकिन तुम्हें दया नहीं आती। इतनी जल्दी प्रीति की वह कहानी भूल गईं। जाओ, संसार में नाचो-कूदो। संसार-सागर की सुनहली मौजों में पिछली कहानी भूल जाओ। जहाँ जाओ, सुखी रहो। अब मैं यहाँ से जा रहा हूँ, लेकिन याद रक्खो, मेरी आहें

तुम्हारे दिल में पहुँचकर तुम्हें तड़पा देंगी। तुम सारे सुखों के मध्य रहकर भी सदा दुखी रहोगी।"

राधा पिघल गई। उसने पुकारा। युवक ने घूमकर देखा। राधा ने संकेत किया। युवक को फिर आशा बँधी। वह लौट आया—"तुम मेरे यहाँ नौकरी करोगे?"

"हाँ, यदि मिल जाय, तो!" उत्तर मिला।

"तुम गाना जानते हो?"

"गाना!" वह मुस्किरा पड़ा—"साज के बिना गाना कैसा? ऊषा! मेरे साथ अन्याय मत करो।"

"क्या मतलब? तुम अभिनय तो अच्छा करते हो।" राधा मुस्किरा पड़ी।

"यह अभिनय नहीं, मेरा राज है।" विनोद गम्भीर हो गया।

"राज! कैसा राज?" उत्सुकता में ऊषा डूबने लगी।

"ऊषा!" विनोद कड़क उठा। वह आवेश में बह चला। नियंत्रण को पार कर गया।

सारे बाँध टूट गए। वह जल्दी-जल्दी कहने लगा—"ऊषा! मुझे माफ करो।" फिर थोड़ा रुककर—'मैंने तुम्हारे साथ बड़ा जुल्म किया। मुझे ईश्वर कभी नहीं क्षमा करेगा, लेकिन तुम......। ऊषा! तुम मुझे क्षमा कर दो। मैं जानता हूँ कि तुम मुझसे घृणा करती होगी। मैं ऐसी ही वस्तु हूँ। मुझसे सारे संसार को घृणा करना चाहिए। मुझे बड़ा अफ़सोस है।

मुझे बड़ा पछतावा है। मेरी ऊषा! मुझे एक बार क्षमा कर दो।"

वह आगे बढ़कर राधा के पैरों पर गिर पड़ा। राधा पीछे हट गई। मुड़ी और चल पड़ी एक ओर। विनोद ने इस निर्दयता को देखा। उठकर वह खड़ा हो गया। सामने चौकीदार खड़ा था।

"आइए बाबूजी! ज़रा मैं आपको बाहर पहुँचा आऊँ।"

विनोद उसका मुँह देखने लगा। चौकीदार ने उसे धक्के देकर गेट के बाहर निकाल दिया।

चौकीदार की बात का राधा को पता चला। वह उलझन में पड़ गई—"कौन था वह युवक? लगता तो बिलकुल सीधा-सादा था।" उसको दया आई, उसने उसे बुलवाया। बातचीत हुई। विनोद ने अपने ऊपर नियंत्रण किया। उसको एक आवारा का पार्ट मिला। उसका नाम आवारा करके मशहूर हो गया।

दूसरा पिक्चर बड़ी धूमधाम से कुछ दिन बाद लखनऊ में लगा।

---

[२०]

विनोद के गाँव में चर्चा छिड़ी। सब लोग परेशान थे। सरपंचजी निराश हो गए। गाँववालों ने दुःख प्रकट किया। सुबह तय हो गया कि सब लोग खा-पीकर रात में आठ बजे आवें।

रात्रि का समय आया। सब लोग सरपंच के घर पर दालान में जमा हो गए। धूनी के चारों ओर लोग चिलमें लेकर बैठ गए। एक वृद्ध ने दम मारा। दूसरे ने साँस खींची, गाल पिचक गए, आँखें लाल होकर निकल आईं।

बरसात के दिन थे। पास से ही मेढक चिल्ला रहे थे। घाघरा में बाढ़ आ गई थी। नीम का पेड़ तने तक डूब चुका था। सरपंच का मकान काफ़ी ऊँचे पर बना था, लेकिन चौपाल में कुछ नीचे तक पानी आ गया था। गाँव में बाबू लोग एक दूसरे से मिलने धोती उठाकर जाया करते थे। बरसात में यहाँ नित्य ऐसा ही होता था।

बैठक प्रारम्भ हो गई। मुखिया ने अपना प्रश्न सबके सामने पुनः रक्खा। लोग विचारों में डूब गए।

अंत में सबकी यही राय हुई कि सरपंचजी खुद लखनऊ चले जायँ। वृद्ध मुखिया ने भी यही राय दी।

दूसरे दिन रात्रि को दस बजे 'जनता' गोरखपुर से चल पड़ी। विनोद के पिताजी लड़के के खो जाने से दुखी थे। मानव ऐसे ही समय आशा का सहारा लेता है। सरपंचजी भी उसी अवस्था में थे। आशा और निराशा की नावों पर उनका एक-एक पैर फँस चुका था। जाने कौन डोंगी खींच ले जायगी? उन्होंने गीता के कुछ श्लोक मन-ही-मन कहे। रामायण के दोहा-चौपाइयों में ध्यान लगाते हुए वह रात्रि बिता चुके थे।

गोंडा-बस्ती में आते-आते पक्षी चहचहाने लगे। यात्रियों ने दातूनें लेकर रख लीं। कुछ लोग चाय-पानी करने टी-स्टाल पर चले गए, कुछ लोग बम्बे पर हाथ-मुँह धोने।

सरपंचजी को इनमें से किसी कार्य का भी ध्यान न रहा। वह गम्भीर होकर तुलसीदासजी के निकट पहुँच गए। कभी हनुमान्‌जी बन जाते, कभी सीता का अशोक-वाटिकावाला रूप अपना लेते, और कभी-कभी लक्ष्मणजी की तरह क्रोधी बन बैठते थे। रामायण के प्रत्येक पात्रों में वह बारी-बारी से विचरने लगे।

आठ-साढ़े आठ बजे गाड़ी लखनऊ, चारबाग-स्टेशन पर, पहुँच गई। पथिकों ने टिकट देकर अपनी-अपनी राह ली। विनोद के पिताजी धोती, कुर्ता और रेशमी सरपंची साफ़ा डाटे अत्यंत शोभायमान हो रहे थे।

एकआध रिक्शेवाले गले में रूमालें डाले हँस पड़े। विनोद के पिताजी को ठेस लगी। उन्हें रिक्शेवालों पर क्रोध आया। सोचा कि ये गाँव में होते, तो इन्हें गाँव से बाहर करवा देते।

सामने बसें देखकर वह एक बस में बैठ गए। अमीनाबाद में बस आकर रुक गई। वह उतर पड़े।

घर आकर देखा, ताला बन्द था। पड़ोसी के यहाँ से आवाज़ आई—"आप किसको ढूँढ़ते हैं; विनोद बाबू तो आठ-दस दिन पर कभी-कभी आ जाया करते हैं। बाहर गए हैं।"

सरपंचजी ने बुलाकर लड़की से पूछा। बीच में ही एक लड़का बोल पड़ा—"उन्होंने तो यह मकान खाली कर दिया है। नज़रबाग़ में रहते हैं। लड़का मुँह फेरकर हँस पड़ा। विनोद के पिताजी निराश होकर नज़रबाग़ का पता लगाने निकल पड़े। उन्होंने सोचा कि विनोद तो बी० ए० में पढ़ता है; सारा लखनऊ जानता ही होगा। जाते ही पता लग जायगा। नज़रबाग़ में वह घंटों घूमते रहे, परंतु किसी ने भी विनोद का पता उन्हें न दिया।

लौटकर फिर उसी मकान पर आए। पड़ोस की युवती खिड़की में पर्दे की आड़ से बोली—"उनका कोई ठीक नहीं है, कब आएँ। आप व्यर्थ परेशान हो रहे हैं।"

"मैं विनोद का पिता हूँ। यों ही नहीं लौट जाऊँगा, कुछ करके जाऊँगा।" सरपंचजी राजसाही ठाट में बोल उठे।

युवती मुस्करा कर हट गई।

विनोद के पिताजी लखनऊ की सड़कों और गलियों में तीन दिन तक बिना अन्न-पानी फिरते रहे। पुत्र की याद में उन्हें कुछ अच्छा नहीं लगता था। उनकी सारी आशाओं पर पानी फिर गया था। गृहस्थी की नाव का बूढ़ा माझी रो-गाकर एक दिन चला गया।

गाँववालों की भीड़ जमा हो गई। गाँव में शोर मच गया—"सरपंचजी लखनऊ गए थे। आ गए।"

शाम को बैठक हुई। सरपंचजी की आँखों में कथा कहते-कहते आँसू आ गए। मासूम देहाती अफ़सोस कर रह गए।

घर में से आवाज़ आई। किवाड़ थपथपाये। लोगों ने ध्यान न दिया। ऐसा तो वृद्धा किया ही करती थीं।

किवाड़ फिर थपथपाये। बौखलाकर किशोर घर में चला गया। मा ने इशारा किया कि पिताजी को भेज दो। वह चौखट पर से ही लौट पड़ा।

पिताजी आ गए। योजना उनके सामने रक्खी गई। पतिव्रता के अधर आत्मगौरव से मुस्किरा उठे। वृद्धा ने तारीफ़ की। सरपंचजी को थोड़ा संतोष हुआ, पर वह इतनी शीघ्र अपनी रानी बहू को भाड़ में न झोंकना चाहते थे। देहाती अनजान लड़की! जाने क्या हालत हो। फिर लखनऊ शहर, जहाँ के जुल्फ़ीबाज़ गुंडे मशहूर हैं।

पुष्पा में आत्मबल जाग्रत् हुआ। वह वीर बन गई। अब उसे संघर्ष करना था। उसे यह अवसर बहुत दिनों पर

मिला था। बहुधा रो-रोकर वह घर की दीवारों के अन्दर रह जाया करती थी, परंतु आज उसे कुछ कर दिखाने का मौक़ा मिला। वह इसी मौक़े की खोज में थी। वीरांगना फेंटा कसकर तैयार हो गई। सबने आशीर्वाद दिया। बारह वर्ष का किशोर भी भैया की खोज में लखनऊ चल पड़ा।

दोनो इंटर क्लास के डिब्बे में बठकर लखनऊ पहुँच गए। किशोर रात-भर पुष्पा की गोद में सोता रहा। रिक्शा में दोनो डेरे पर पहुँचे। किशोर ने भैया का डेरा देखा था।

आस-पास पता लगाया। कुछ पता नहीं लगा। किशोर ने ताला तोड़ दिया। दोनो घर में गए।

ठाट-बाट निराले थे। कोचें पड़ी थीं। रेडियो गोल मेज़ पर रक्खा था। सुई टूटी पड़ी थी।

पलँग एक ओर बिछे थे। तीन-चार कमरे एक दूसरे से मिले हुए थे। चारो ओर गर्द बिछी हुई थी। पुष्पा की फ़ोटो धूल से ढक गई थी। उसे अपने घर में घूमने में अपनापन का भाव प्रखर हो उठा। सारी मेज़-कुर्सियों से वह समवेदना प्रकट करने लगी। बरसात के दिन थे।

स्विच घुमाते ही रेडियो से घरघराहट आई। इसी में पुष्पा को आशा की एक झलक दिखाई पड़ी। कुछ समय बाद रेडियो से ख़बरें आने लगीं। उसके बाद आवाराजी की एक कविता सुनाई पड़ी। पुष्पा ने ध्यान न दिया। आवारा की जीवनी भी आई।

आवाराजी का वास्तविक नाम है विनोदकुमार ! पुष्पा चक गई। वह सन्न से रह गई। आगे सुनाई पड़ा—"बम्बई में आकर आपने अपने काव्य में यथेष्ट प्रगति दिखाई है। आनेवाले चित्र 'माँझी' में आप साइड हीरो बनकर आएँगे। आपके बारे में अभी बहुत थोड़ा मालूम है, पर जो ज्ञात है, उसके आधार पर निकट भविष्य में आशा की काफी झलक दिखाई देती है।"

पुष्पा उत्साह से फूल गई, खुशी से उछल पड़ी। अनायास प्रसन्नता से वह खिलखिलाकर हँस पड़ी। उसका रोम-रोम गद्गद हो गया। वह "किशोर-किशोर" चिल्ला पड़ी। उसने किशोर को सब हाल-चाल बता दिया।

सामान बँध गया। दूसरे क्षण वह रिक्शे में दूर निकल गई। पड़ोसिन पर्दे को हटाकर झाँकती रह गई।

दोनों बम्बई पहुँचे। पुष्पा सीधे रेडियो-स्टेशन पहुँच गई, और विनोद का पता उसे लग गया।

पुष्पा चलती गई। साथ में था किशोर। उत्सुकता में दो पथिक आशा की ओर निराशा से टकरा-टकराकर बढ़ते जाते थे। आ गया बताया हुआ अँधेरी का मुहल्ला। इसमें फिल्म-स्टार और फिल्म-कम्पनियों के कर्मचारियों के बँगले थे। आज भी दिलीपकुमार, राज कपूर और अशोककुमार यहीं विचरा करते हैं। नरगिस, मधुबाला और कामिनीकौशल की

कारें चारो ओर से घूमकर इन्हीं बँगलों से गुज़रती हैं। बम्बई में एक देखने की चीज़ है।

सामने के गेट में दोनो प्रवेश कर गए। पता चला, वह दो-तीन रोज़ के लिये बाहर गए हैं।

मेहमान की तरह दोनो बैठक के बग़लवाले कमरे में जम गए।

---

[२१]

ऊषा ने अँगड़ाई ली। वह चौंककर झिझकी, और उठकर बैठ गई। आधी रात का समय था।

"कौन हो ? कौ···न ?" ऊषा की आवाज बन्द हो गई।

"परदेसी, ऊषा !"

"इतनी रात···"

"ऊषा।"

"ऊषा ! ऊषा कौन है ?"

"अपने हृदय से पूछो। मुझे धोखा देना चाहती हो ?"

"मैं कुछ नहीं चाहती। तुम तो बड़े अच्छे आदमी हो। क्या करने आए हो ?"

"बस, तुमको पाने, तुमको अपने साथ ले जाने और दूर जाकर तुमसे प्रेम करने। उठो, और मेरे साथ चलो।"

"मुझे छोड़ दो, ऐसा मत करो। मैं तुम्हारे पाँव पड़ती हूँ।"

"ऊषा ! मैं खो गया हूँ। क्या तुम मुझे सचमुच नहीं जानतीं ? मैंने तुम्हें धोखा दिया, ठुकराया, पर अब तुम्हारे पीछे शून्य संसार में भटक रहा हूँ। एक बार मेरी आँखों में

झाँको। क्या तुम्हें अतीत की कोई झलक नहीं आती है? ऊषा! सच्चा प्यार क्या है, आज मैं यह जानना चाहता हूँ। इसी को ढूँढ़ने मैं तुम्हारे पास आया हूँ। तुम सब कुछ कैसे भूल गईं? अब मुझे सत्य की ओर जाना है। अब तक मैंने तुमसे छिपाया, पर अब आज राज़ खुल जायगा। सुबह तुम्हें एक पत्र दिया जायगा। उसे पढ़ लेना।" थोड़ा साँस लेकर—"ऊषा! तुम समझती थीं कि मैं तुम्हें लूटने आया हूँ। मैं लुटेरा नहीं हूँ।" थोड़ा आवेश में—"लुटेरी तुम हो। लुटेरी हैं तुम्हारी यह भोलीभाली आँखें, जिनसे चोट खाकर कोई बचा न होगा।"

"मैं परेशान हूँ। मैंने तुमको पहले कभी नहीं देखा है। बम्बई में तुम जब से आये, मैं जानने लगी। उसके पहले तुम कहाँ रहते थे, यह भी मुझे नहीं मालूम है। लेकिन यह जो तुम कह रहे हो, इससे मालूम पड़ता है कि प्यार का एक नश्तर तुम्हारे दिल में चुभ चुका है। तुम्हें शायद धोखा हो गया हो। अब जाओ, रात हो गई है।"

"मैं जाने के लिये नहीं, फ़ैसला करने के लिये आया हूँ।"

"कहो, क्या कहना है?"

"अब तुम क्या चाहती हो? मैं सड़कों पर पागल बनकर चिल्लाऊँ, समुद्र में डूबकर आत्महत्या कर लूँ या दुनिया से कहीं दूर चला जाऊँ, और वहाँ जाकर जलता रहूँ। क्या चाहती हो, जल्दी बोलो।"

"परदेसी !" थोड़ा रुककर—"तुम्हें क्या हो गया है ?" करुणा-भरे स्वर में—फिर आश्चर्य के साथ—"तुम यहाँ आ कैसे गए ?"

"मुझे तुम्हारी मुहब्बत खींच लाई। चौकीदार सो रहा था, मैं चुपके से चला आया।"

"अगर अब वह जग जाय, तो ?"

"तो तुम चौकीदार को जगा सकती हो।"

विनोद वहाँ से चल पड़ा। चौकीदार सो रहा था। वह चुपके से निकल गया। थोड़ी दूर जाकर उसने जेब से एक काग़ज़ निकाला, और बिजली की रोशनी में एक पैर उठाकर लिखने लगा—"ऊषा ! यह एक दर्द-भरी कहानी है। इस पार तुम हो, उस पार मेरी चिता है। किधर को जाऊँ, यह समझ में नहीं आता। जीवन-नाव बीच में काँप रही है, कोई किनारा नहीं मिलता।

"शाम का समय था—तुम्हें याद होगा। पानी बरस रहा था—रिमझिम-रिमझिम ! सन्ध्या के साथ तुम चली आ रही थीं, मैंने तुम्हें आश्रय दिया। तुम्हें समाज ठुकरा रहा था, पर मेरे हृदय में दुर्बुद्धि जगी। तुम्हें लूटकर ठुकराने की मैंने सोच ली थी। मैं अपनी शादी के बारे में तुमसे छिपाता रहा। ऊषा ! मेरी शादी हो चुकी है। घाघरा नदी के किनारे एक गाँव है, उसी में मेरा घर है। मेरी स्त्री वहीं रहती है। मैंने उसको सदा से ठुकराया है। मुझे वह पसंद नहीं है।

"एक दिन तुम्हें मेरी चाल का पता लग गया। तुमने भागना चाहा। मैंने तुम्हें कोठरी में बंद कर दिया.....................
और......" थोड़ा रुककर वह सोचने लगा। लेखन-क्रिया पुनः गतिशील हुई। अक्षरों की दौड़ शुरू हुई।

"तुम्हारे लापता हो जाने के बाद मैं तुमको खोजने लगा। उसके बाद ही मुझे तुम्हारी मुहब्बत परेशान करने लगी। मैं पागल बन गया। मैं एकदम पागल बन गया। एक दिन मैंने तुमको 'आकाश के फूल' में देखा। मेरी आग भड़क उठी, और मैं तुम्हारे पास आ गया। अब यहाँ हूँ।" अब आगे कहाँ हूँगा, नहीं कह सकता।

विनोद 'आवारा'"

रात्रि में बिजलियों के खम्भे दूर से दिखाई दे रहे थे। ऊषा का मकान चौथे खम्भे पर था। विनोद ने एक बार पुनः प्रयास किया।

वह रात्रि में ही पत्र लेकर उसके पास पहुँच गया। वीरता जग उठी। उसने स्विच ऑन किया। ऊषा अभी तक जग रही थी।

"तुम फिर आ गए?"

"तुम्हारा पत्र देने आया हूँ। पढ़ लो, अब मैं जा रहा हूँ।" वह तुरंत चल पड़ा। ऊषा सरसरी निगाह से पढ़ने लगी।

चौकीदार जग रहा था। विनोद ने उससे बचना चाहा, पर उसने उसे देख लिया। गम्भीर स्वर में बोल पड़ा—"कौन हो तुम?"

विनोद झट दीवार पर चढ़ गया। शोर मच गया। चौकीदार ने पीछा किया। दोनों में मुठभेड़ हो गई। चौकीदार गिरकर बेहोश हो गया। गिरते समय उसने एक भाला विनोद की जाँघ में कोंच दिया। विनोद भी गिर पड़ा। एक बार कराहकर उठा, फिर गिर पड़ा। सरकते-सरकते वह अपने बँगले के गेट तक पहुँच गया। सब लोग सो गए थे। पुष्पा जग रही थी। प्रतीक्षा में उसकी आँखें तीन दिन से पथरा गई थीं। वह उछल-कर दौड़ी। विनोद को सहारे पर उठा लाई।

"कौन ? पुष्पा ?"

"प्राणनाथ !"

"तुम मुझे क्यों उठा लाईं ?"

पुष्पा की आँखों से आँसू छलक पड़े।

"यह आपको क्या हो गया है ?"

"मैंने एक आदमी का ख़ून किया है। उसने मेरी जाँघ में भाला मार दिया है। पुष्पा ! तुम चाहो, तो मुझे बचा सकती हो।"

"घबराइए मत। मैं सब प्रबंध कर लूँगी।"

सड़क पर लोग इकट्ठा हो गए थे। शोर मच गया था। सब लोग हैरान थे। धीरे-धीरे लोग चले गए। भीड़ ख़तम हो गई। फिर वही सूनापन ! किशोर टैक्सी-स्टैंड की ओर लपक गया। पुष्पा ने तुरंत अपनी साड़ी से कपड़ा निकाला। कपड़ों की एक पर्त घाव के ऊपर रखकर उसने पट्टी बाँध दी।

टैक्सी आ गई। दोनों चल पड़े। साथ में किशोर भी बैठ गया। अगली पर था किशोर, पिछली पर विनोद और पुष्पा।" पीड़ा से विनोद कराह उठता था। पुष्पा ने उसका सिर अपनी जाँघों पर रखकर उसे प्यार-भरे नेत्रों से देखा।

विनोद में समवेदना का प्रकाश हुआ। प्रीति की एक किरण हृदय में ज्योति बनकर आ गई। पुष्पा इधर दो-तीन वर्षों से तड़प रही थी। मिलन की प्यास थी। वह प्यास हृदय में उठकर हृदय में ही कितनी बार रह गई थी। वेदना बनकर आती थी, और आह बनकर निकल जाती थी। उसे यह मधुर मिलन खुशी से उछाल रहा था। एक ओर हर्ष था, दूसरी ओर विषाद। एक-एक आँख से दोनों अश्रु बनकर बह चले।

विनोद ने प्यार से हाथ ऊपर उठाया। पुष्पा के बिखरे हुए बालों में उसने अपनी उँगलियाँ उलझाते हुए उसके गालों पर अपने अधर रख दिए......फिर एक चुम्बन! पुष्पा खिल उठी। आनन्द से वह झकझोर उठी। आज उसे अपनी खोई हुई सम्पत्ति मिल गई थी। वह सम्पत्ति, जो नारी की सबसे क़ीमती वस्तु है। आज पुष्पा को विनोद मिल गया। दोनों के आँसू घुल-मिलकर बह चले। किशोर बिजली के खम्भों को गिनता जा रहा था। रेलवे-स्टेशन आ गया।

दो-तीन दिन के बाद दोनों सकुशल लखनऊ पहुँच गए। विनोद घर में आ गया। सारी वस्तुएँ व्यवस्थित रूप में देखकर वह आश्चर्य में पड़ गया।

किशोर ने कहा—"भैया, हमने आपका ताला तोड़ दिया था। हमें गिरफ्तार करवा दीजिये।"

पुष्पा ने संकेत किया। किशोर चुप हो गया। विनोद को किशोर की चंचलता पर हँसी आई। उसके हृदय में भ्रातृप्रेम उमड़ पड़ा। बोला—"किशोर! इधर आओ।"

पुष्पा ने प्यार से किशोर को संकेत किया, जैसे वह कह रही हो कि जाओ, तुम्हें तुम्हारे भइया बुला रहे हैं।

किशोर खाट पर बैठ गया। विनोद आँसुओं में फूट पड़ा। दोनो लिपट गए। किशोर भी रो पड़ा। दोनो अहक-अहककर रोने लगे। पास में खड़ी पुष्पा की आँखों में भी आँसू छलक आए। आज वे तीनो कितने दिन के बाद मिले थे।

पुष्पा डॉक्टर का इंतजाम करने चली गई। डॉक्टर रोज आने लगा। दवा होने लगी।

घर पर तार भेजा गया। गाँव से वृद्धा मा और सरपंचजी तथा एकआध और लोग चल पड़े। चौथे दिन वे सब पहुँच आए। वृद्ध पिता चारपाई के पास खड़े थे। मा आते ही बच्चे से लिपट गई। मा-बेटे फूट-फूटकर रोने लगे। लोग हट गए। वे रोते रहे। मा ने सिर हटाकर एक बार वात्सल्यता से उसका सारा मुख देखा। वैसा ही मुख था। रेखें थोड़ी गहन हो गई थीं, पर चेहरे पर रूक्षता आ गई थी। मुख सूख गया था। गाल की हड्डियाँ निकल पड़ी थीं। मा बिलखकर बच्चा-बच्चा चिल्ला पड़ी। बेटा भी रो पड़ा। सारे घर में हर्ष-

विषाद छा गया था। लोगों ने राय दी कि अभी चोट है, लखनऊ में रहना ही ठीक है।

फिर सब लोग चले गए। किशोर भी मा के साथ चला गया। पुष्पा-विनोद रह गए। विनोद अब तक काफ़ी अच्छा हो चला था। पुष्पा के कंधे पर हाथ रखकर कभी-कभी टहला करता था। कमरे से बाहर जाना मना था, पर उसका जी नहीं मानता था। वह आँगन तक चला जाता था।

एक दिन पोस्टमैन ने चिट्ठी दी। पुष्पा ने खोलकर उसे पढ़ना शुरू किया—

"प्रिय विनोद!

"मैं आजकल दिल्ली में हूँ। अपनी पढ़ाई का ध्यान रखना। ऊषा का क्या हाल-चाल है? लिखना। आशा है, तुम दोनो सुखी होगे। मैं तुम दोनो को सदा सुखी देखना चाहती हूँ। वह एक बेसहारा लड़की है, उसका जी मत दुखाना। ईश्वर से आशीर्वाद माँगती हूँ, तुम दोनो फलो-फूलो।"

सन्ध्या"

पुष्पा ने पत्र अपने पास रख लिया। उत्सुकता से वह सिहर-सी उठी। प्रश्न उठा—"सन्ध्या कौन है? और वह चुड़ैल ऊषा कौन है? बेसहारा लड़की! यह सब क्या राज़ है?"

सारे प्रश्न मन में ही उठकर मन में ही विलीन हो गए। उसने प्रकट कुछ भी नहीं किया, पर पता उसे सब कुछ हो चला। शांति उसके चेहरे पर सदा छाई रहती थी। भारी-से-

भारी विपत्ति में भी वह डरती न थी। सागर-सी गम्भीर और शांत। इसी कारण विनोद उसे चाहता न था। मानव के जीवन में परिस्थिति ही परिवर्तन का कारण बन सकती है। और भी कारण हो सकते हैं, परंतु परिस्थितियों का लम्बा हाथ रहता है। प्यार का अंकुर भी बहुधा परिस्थिति पर निर्भर रहता है। समवेदना और करुणा के झरोखे परिस्थितियों की ईंटों से बनते हैं। ऐसा प्रेम स्थिर रहता है। रूप और यौवन से अंकुरित प्यार बहार के चले जाने के बाद ख़तम हो जाता है। रूप लुट गया, यौवन क्षीण हो गया। रह क्या गया? लुटेरों को अब कौन आशा है। रस चूसे हुए फूल को लेकर भौंरा क्या करेगा? जब तक रस था, लावण्यता थी, लुभाने की शक्ति थी, भौंरे मँडराते रहे—चक्कर लगाते रहे। पुष्प मुरझा गया, तो कौन आए। पर घटना से प्रेरित प्यार की किरण जीवन की अँधेरी-उजाली गलियों में सदा चमकती रहेगी। पुरानी याद दिलाती रहेगी, और वे प्रेम करते रहेंगे। विनोद के जीवन में भी ऐसी ही घटना हो चुकी थी। पुष्पा के प्रति उसका हृदय विकल होकर दया से उमड़ पड़ता था। वह पुष्पा को ख़ूब प्यार करना चाहता था।

---

[२२]

चम्पा को छोड़ संध्या लखनऊ चली आई। जाने दीपक कैसा है ? अभी वह पिघला या नहीं ? विनोद और ऊषा के बारे में भी उत्सुकता थी। विनोद क़रीब-क़रीब अच्छा हो चला था। सुबह-शाम टहलने की अनुमति मिल गई थी। विनोद और पुष्पा टहलकर आ रहे थे। संध्या कार पर स्टेशन की ओर निकल गई। विनोद ने उसे देखा। वह संध्या के पास शाम को पहुँचा। पुष्पा घर पर रसोई बना रही थी। उसे घर के काम-धन्धों में छोड़कर वह संध्या से मिलने चला गया।

उस दिन उसे निराश लौटना पड़ा। आने पर संध्या को पता चला। वह फ़ौरन् विनोद के मकान पर पहुँची। सुबह का समय था। रिमझिम-रिमझिम पानी बरस रहा था। टीन छमछमा उठी। खिड़की से बौछारें आ रही थीं। पुष्पा रसोई में थी। वह कभी-कभी गुनगुना उठती थी।

संध्या को देखकर पुष्पा ने थोड़ा घूँघट काढ़कर मुख फेरा। फिर मुड़कर देखने लगी। उसे जिज्ञासा हुई।

संध्या अवाक् रह गई। उसको आश्चर्य हो रहा था। वह

अंदर चली गई। विनोद लेटा-लेटा उपन्यास पढ़ रहा था। उठकर बैठ गया। दोनो में वार्तालाप होने लगा।

विनोद चुप हो गया। उसके पास संध्या के प्रश्नों का कोई उत्तर न था।

संध्या ने ऊषा के बारे में उलट-फेर कर बहु भाँति से पूछा, पर विनोद की चुप्पी से उसको कुछ पता न लगा।

विनोद को आभास हो गया कि यह अभी ऊषा के बारे में कुछ नहीं जानती है। उसने असत्य भाषण का प्रयोग किया। बोला—"ऊषा! आजकल वह नागपुर में है। मैंने शादी की व्यवस्था कर डाली। अब वह एक कुलवधू है।"

संध्या मुस्किराई। उत्सुकता में फिर पूछने लगी—"और वे कौन हैं?" थोड़ा हँसकर—"जैसे मैं जानती ही नहूँ। तुम लोग मेरे साथ नाटक खेल रहे हो? खेलो, खूब खेलो। पर मैं किसी भोंदी लड़की का पार्ट नहीं कर सकती।"

विनोद गम्भीर हो गया। उसने विश्वास दिलाया कि रसोई-वाली युवती ऊषा नहीं, बल्कि उसकी भावज थी।

संध्या रसोई में आई। दोनो में नमस्ते हुई। संध्या ने उसे अपने यहाँ आमंत्रित किया। शाम को दोनो टहलते हुए चले गए। संध्या ने स्वागत किया। दोनो युवतियों में सम्पर्क बढ़ा। पुष्पा का संध्या के प्रति भ्रम दूर हो गया, पर ऊषा अब तक खटकती रही। एक दिन वह संध्या से पूछ बैठी—"बहन! यह ऊषा कौन है?"

"मेरी एक सहेली थी। उसकी भी एक अजीब कहानी थी।" सन्ध्या डूब गई।

"अब वह क्या करती है ?"

"कुछ नहीं।" फिर चौंककर—"उसकी तो अब शादी हो गई है। तुम तो उसे जानती होगी ? विनोद ही से तो हुई है।"

"विनोद से ! कब ?"

"कोई दो-तीन महीने हो गए। विनोद बतला रहा था कि उसने उससे शादी करके नागपुर भेज दिया है।"

ऊषा चुप हो गई। सन्ध्या ने प्रश्न किया—"तो क्या तुम्हें अब तक अपनी देवरानी का पता न था। शादी हुई, जेठानी को पता ही न चला। ख़ूब !" संध्या हँस पड़ी। पुष्पा के आँसू छलछला पड़े। पलक-रूपी कमल किशलय अश्रु-सरिता पर छा गए। कंचुकी के ऊपर टपटप चार-छः बूँदें ढलक पड़ीं। सन्ध्या घबरा गई। उसने प्रश्न किया, पर उसे कोई उत्तर न मिला। उलझन में ही वह घर चली गई। ख़ुशी के अवसर पर रोने का मतलब ! शायद मायके की याद आ गई हो। पुष्पा चुपचाप उठी। अंतरात्मा को एक गहरी ठेस लगी।

उसने इस संबंध की गहराई का अंदाज लगाना चाहा। उसने चोरी से एक लिफाफा खोला। पत्र इस प्रकार था—

"विनोद बाबू !

आपने मुझे नागपुर में अकेली छोड़ दिया। मैं आपके बिना परेशान हूँ। कुछ अच्छा नहीं लगता। काश चातक की प्यास

शांत करने आप स्वाति-बूँद बनकर आ जाते। आशा है, खिली कली आपसे निराश न होगी। यौवन-वन में रूप हरियाली बनकर लोट रही है, मस्ती के झकोरे आ-आकर तुम्हारी याद दिलाया करते हैं। आओगे न? मुझे तुम्हारे बिना चैन नहीं है। कब आओगे? शादी के वचनों को न भूलना।

ऊषा।"

दो दिन के बाद पोस्टमैन आया। विनोद ने पत्र पढ़ा। आश्चर्य में वह कुछ काल के लिये डूब गया।

सन्ध्या शाम को आई। विनोद ने उसके आते ही अपना प्रश्न रक्खा। सन्ध्या ने उत्तर में प्रश्न किया—"क्यों? तुम्हीं तो उस दिन कह रहे थे कि उससे तुम्हारी शादी हो चुकी है, फिर तुम्हें पता नहीं है कि वह कहाँ है। उसने नागपुर से लिखा होगा। बात साफ़ है।"

"नहीं सन्ध्या! मैंने अपने एक मित्र से उसकी शादी करा दी। अभी मेरी शादी नहीं हुई।"

सन्ध्या का भ्रम दूर हुआ। पुष्पा को धीरज बँधा। पुष्पा बातों में आ गई।

विनोद झूठ बोलकर पछता रहा था। उसमें इतनी हिम्मत न थी कि अपनी कमजोरी खोल देता।

कुछ दिन के बाद पुष्पा गाँव चली गई। विनोद अच्छा हो गया था। शाम को क्लब चला जाया करता था। संध्या भी क्लब

में कभी-कभी आ जाती थी। ऊषा में रुचि रखने के कारण वह विनोद से प्रायः मिलकर हाल-चाल ले लिया करती थी।

पुष्पा के चले जाने के बाद संध्या ने विनोद के घर आना छोड़ दिया। रास्ते और क्लब में वे मिल लिया करते थे। ऊषा बदल गई, यह विनोद को खटका करता था। कभी-कभी पुष्पा की भी याद आया करती थी।

प्यार भी कैसा खिलौना है!... और मानव भी बालक-जैसा—इधर तोड़ा, उधर पाया—कभी-कभी विरक्ति में, विरह में, कभी हँसी-खुशी में।

आजकल के युवकों में प्यार करने की इच्छा होती है—वैसी ही, जैसी कुछ-कुछ फ़िल्म में। बाद में कभी यह प्रेम प्रवाह या आँधी का रूप शायद धारण कर ले, किन्तु फ़िल्मी रिहर्सल से ज्यादा गंभीर नहीं होता है। विनोद की दशा फ़िल्मी रिहर्सल और वास्तविक आँधी के बीच में थी।

ऊषा के जाने के बाद उसने सन्ध्या को ही उसकी जगह में पाया। मानव जब निराशा की अन्तिम दीवार तक पहुँच जाता है, तो उसे अपने पर हँसी आ जाती है। सन्ध्या की सन्निकटता ही उसे बार-बार उस विरक्ति में गुदगुदी पैदा कर रही थी।

अभाग्य-वश उस दिन शाम को उसने सन्ध्या से सब कुछ कह डाला, पर सन्ध्या ने तो सिवा एक चपत के और बात ही न की। उस समय वह सीधे-सीधे 'महल' देखकर आ रहा था।

अशोककुमार और मधुबाला का जन्म-जन्मान्तर का प्रेम और माता-पिता का अत्याचार वह सब देख चुका था।

और फिर······!

विनोद का सारा नशा ढीला हो गया। मन में विचारों का एक तूफ़ान उठ गया।

विनोद पुनः दुःखी हो उठा। उसे अपनी कुवृत्ति पर बड़ा क्रोध आ रहा था, पर अब हो ही क्या सकता था? सबके सामने चपत खानी थी, सो हो ही गया। अब बनाने-बिगाड़ने से क्या लाभ? वह कोच पर एक पैर नीचे लटकाए बैठा रहा। घड़ी टिक्-टिक् करती चली जा रही थी। हृदय की धड़कन शरीर को झकझोर देती थी। वह शांति चाहता था, शांति। उसे कभी-अपने ऊपर हँसी आ जाती, परंतु यह उसकी बेहयाई को हँसी थी। मन को धीरज बँधानेवाला भी कोई न था। वह खाट पर लेट गया। घंटों चित लेटा रहा। नील गगन में उज्ज्वल बादल तैरते हुए चले आ रहे थे। धीरे-धीरे अंधकार छाने लगा। विनोद उठ न सका। उठता भी, तो कहाँ जाता? उसे कौन सांत्वना देता? उसे कौन मनाता? उसे एकाएक मा की स्मृति आ गई। काश मा होती।

वह लेटा रह गया। बादलों की आड़ से कभी मा, कभी पुष्पा और कभी सरला आदि झाँक जाया करती थीं। विचारों की पगडंडी पर वह झूमता हुआ क्षितिज के पार चला गया। लौटने पर उसने उसी दालान में अपने को पाया। वही आकाश

में बादल चले जा रहे हैं। जाने किधर जायँगे। ये सब उसको ऐसा जान पड़ा, जैसे वह स्वयं भी एक ओर बढ़ता जा रहा है। क्या इसी चलने फिरने का नाम जीवन है? जीवन में शांति और स्थिरता भी है क्या? यदि है, तो कहाँ? यदि नहीं, तो क्या शांति-मार्ग जीवन के परे या मृत्यु की ओर ही जायगा?' वह इन्हीं में उलझा रहा। किसी-किसी प्रश्न का वह समाधान भी कर लेता था। जीवन का प्रत्येक पहलू उलझन बनकर आता, और एक टीस छोड़कर चला जाता; एक धड़कन बनकर आता और आह छोड़कर निकल जाता। इन्हीं आहों में लम्बी-लम्बी श्वासों के सहारे उसकी एक रात कट गई।

दिन निकल आया, उसने कोई जल-पान नहीं किया। दस बज गया, उसने भोजन नहीं किया। दिन-भर घर में पड़ा-पड़ा वह मा की याद में रोता रहा। शाम का समय आया, वह भी यों ही चला गया। वह चिंता में समाधिस्थ-सा होने लगा।

उस रात विनोद को ज्वर चढ़ा। ताप-क्रम बढ़ता ही गया। रात्रि को वह स्वप्नों की बाढ़ में बह गया। मा की स्मृति हृदय में क्षण-प्रभा बनकर कड़क गई। उसी प्रकाश में अतीत की वात्सल्यता-पूर्ण घटनाएँ सरिताओं, कुञ्जों और पहाड़ियों के रूप में झलक गईं।

आधी रात को वह एकाएक चिल्ला पड़ा—"मा, तुम्हारा बच्चा तड़प-तड़पकर रो रहा है। तुम्हारी गोद से हट जाने के बाद दुःखमय संसार में भटक रहा है। यह भटकना तुमसे कैसे देखा

जाता है? मा, मैं तुम्हारे लिये रो रहा हूँ। तुमको देखने के लिये तड़प रहा हूँ।"

संसार चौंक गया। टॉर्च लेकर लोग आसपास इकट्ठा हो गए। कुछ देर बाद वही नीरवता। शांति पुनः!—वैसी ही।

"अम्मा! तुम कहाँ हो? अम्मा! तुम कहाँ हो?" एक बार वह फिर चिल्ला पड़ा। लोग लौट पड़े। अंदर जाकर देखा, विनोद अचेत पड़ा था। शरीर तवे की तरह जल रहा था। दूर से आँच आ रही थी। मुख लाल हो गया था, मुँदी आँखों से आँसू छन-छनकर छलकते चले जा रहे थे।

थरमामीटर आ गया। १०५° बुखार था। दर्शकों की आँखों में आँसू आ गए। लोग मुँह में रूमाल लगाकर रोने लगे। थोड़ी देर में वह फिर हिला। आशा की लहर दौड़ गई। सबने एक साथ कहा—"विनोद! तबियत कैसी है?" बाक़ी शब्द विनोद के अट्टहास में विलीन हो गए। लोग डर गए। सब का मुख फीका हो गया। अंत में सब लोग चले गए।

सुबह विनोद के घर पर तार भेजा गया।

...Sarpanch

Dihghat, Gorakhpur

Come instantly. Vinod seriously ill. Case dangerous.

Vinod.

---

[२३]

खबर उड़ते-उड़ते दीपक तक आई। वह आश्चर्य में डूब गया। भ्रम के बादल हटते गए। चाँदनी प्रखर होकर नाच उठी। सबके छतों पर चाँदनी रात झिलमिला रही थी। दीपक अपनी छत पर बैठा रहा। स्वप्न आए, आकर चले गए। बाद में उसे नींद आ गई।

भोर हुआ चिड़ियाँ चहचहाईं। इधर-उधर से खासी घरघराहट के शब्द आने लगे। पक्षियों का कलरव बढ़ने लगा। पूर्व की ओर से सूर्य ने ऊषा की लाल किरण फेंकी। लालिमा छा गई। आकाश में लालिमा और काले मँडरानेवाले पहाड़ों का होड़ बँधा। ऊषा ने लाल सारी को व्योम पट पर फैला प्रकृति के साज पर भैरव नृत्य किया। सूर्यतुम्बी से वीणा की झनकार आने लगी।

दीपक उठा। स्विच ऑन कर उसने चप्पल पहनी, और ताला लगाकर वह बाहर चला गया।

दूसरे क्षण वह संध्या के मकान पर आ गया। संध्या आकर खड़ी हो गई। दीपक ने उसे करुणा से देखा। दोनो की आँखों

में दर्द छिपा था। मिलते ही उनका भ्रम दूर हो गया। संध्या आगे बढ़ी, फिर रुक गई। दीपक भी रुक गया। उसने एक बार फिर करुणा से देखा। उसकी आँखों से विनय टपक रही थी। जैसे वह कह रहा हो—"संध्या ! मुझे क्षमा करो। मैंने तुम्हारा अपमान किया। इसका मुझे पछतावा है। मेरे ऊपर दया करो। क्या तुम्हें चाँदनी प्यार-भरी रातें याद नहीं आतीं। मैं तुम्हें कितना प्यार करता रहा ? अब भी वैसा ही करता हूँ। संध्या ! मुझसे निष्ठुर मत बनो। एक बार प्यार का अंचल पुनः इधर आने दो।"

वह आगे बढ़ा। संध्या पीछे हटी। वह बढ़ता गया, वह हटती गई। दोनों अंदर के कमरे में पहुँच गए।

शांति में कमरा गूँजा।

"संध्या !"

संध्या ने उसकी तरफ़ देखा। दोनों के नेत्र मिले। संध्या की आँखों में प्रीति के स्वप्न नाच उठे। आज दीपक उसके पास बैठा था। वह सारी व्यथा भूल गई। एक बार पुनः ध्वनि उठी, और विलीन हुई। सुनाई पड़ा—"संध्या ! तुम्हें याद है न ?"

"क्या ?" उसने सिर उठाकर उदासीनता से देखा। दीपक रो रहा था। संध्या के आँसू छलककर अंचल पर बिखर गए। दीपक आगे कुछ न कह सका, और न वह कुछ सुन सकी।

"चलोगी ?" दीपक ने प्रश्न किया।

"कहाँ ?" उत्सुकता के साथ

"जहाँ संसार न जा सके। एक निर्जन टापू हो, जिसमें हम और तुम हों। संसार की लहरें जहाँ तक पहुँच ही न पाएँ।"

"क्या संसार से भागने से कोई दूर जा सकता है ?"

"हाँ ! संध्या ! क्यों नहीं ?"

"नहीं दीपक ! यह असत्य है। संसार में रहकर ही दूर जाना होगा। निर्जन स्थान में तुम ऊब जाओगे, और संसार की ओर बढ़ोगे। संसार से ऊबो, तभी शांति की ओर जा सकते हो। संसार में रहो। रहना ही पड़ेगा। कहीं जा नहीं सकते, और न जाने से कोई लाभ ही होगा।"

"फिर क्या होगा ? मैं चाहता था कि हम दोनो के बीच कोई तीसरा न आवे। हम दोनो इसी प्रकार एक स्थान पर रहें।"

"घूमने की इच्छा हो, तो बतावो।" संध्या ने मुस्किराकर पूछा।

"मुझे केवल एक इच्छा थी। वह पूरी हो गई।" दीपक ने गंभीरता से कहा।

"वह क्या थी ?" उत्सुकता से संध्या ने पूछा।

"तुमने यहाँ से दूर जाकर मेरे साथ बहुत अन्याय किया था। मैं तुम्हारे लिये बहुत तड़पा, और आज तुम्हें आँखों के आगे देख रहा हूँ। जरा मेरे पास आ जाओ। मिलकर दूर मत रहो।"

संध्या पास बैठ गई। दीपक ने उसे आलिंगन कर प्यार-भरे नेत्रों से देखा। वह भी देखती रही। एकाएक संध्या लजा गई। उसने मुख छिपा लिया। दीपक ने उसका मुख चूम लिया। संध्या का यह प्रथम चुंबन था।

दोनो साथ-साथ उठे, और कार पर चल पड़े। स्टीयरिंग पर झूलते दीपक चला जा रहा था। संध्या ने कहना शुरू किया—"दीपक ! क्या तुम मुझे सचमुच भूल गए थे ?"

"संध्या ! छोड़ो इन सब बातों को। मुझे अधिक लज्जित न करो।"

"नहीं दीपक, मुझे सच-सच बताओ। मुझे अपने से अधिक विश्वास तुम पर था। क्या तुम मुझे एकदम दिल से निकाल चुके थे। मुझे तो विश्वास नहीं होता।"

"संध्या ! क्या यह कोई कहने की बात है ? क्या तुम्हें विश्वास था कि मैं तुम्हें भूल जाता ? मैं तुम्हें कभी भी नहीं भूल सकता। अंतर यही था कि पहले तुम एक आह बनकर आती थीं, और अब एक हँसी या मुस्किराहट। पहले थी तड़पन का दर्द, अब है मिलन की खुशी।

"दोनो में अच्छा कौन लगता है ?" संध्या ने मुस्किराते हुए पूछा।

"पहले तुम्हीं बताओ।" दीपक ने हँसकर कहा।

दोनो साथ-साथ खिलखिलाकर हँस पड़े। कार टेढ़ी-मेढ़ी सड़कों पर तैरती हुई चली जा रही थी।

दीपक ने प्रश्न किया—"हम दोनो ऐसे कब तक रहेंगे ?"

"बाबूजी से कहकर देखिए।"

"अगर बाबूजी न मानें, तो ?"

"मानेंगे क्यों नहीं ?"

"सोचेंगे कि गरीब आदमी है, कौन अपना स्टैंडर्ड गिराए।"

"मैं तो ऐसा कभी नहीं सोचती। प्यार में तो अमीरी-गरीबी का सवाल ही नहीं होता।"

"पर शादी में तो होता है।"

"लेकिन मेरी तुम्हारी शादी में यह न होने पाएगा।"

'विश्वास के साथ कहती हो ?'

"मुझे पूरा विश्वास है।

आगे एक पुल आया। सरिता की मटमैली लहरें भविष्य के धुँधलेपन का संदेश दे रही थीं। दोनो अगल-बगल दूर तक देखने लगे। छत्रमंजिल का छत्र सुनहरी आभा में चमचमा रहा था। वृक्षों की क़तारें किनारे-किनारे दूर तक चली गई थीं। कार आगे की सूनी सड़क पर अधिक तीव्रता से दौड़ने लगी। वे दोनो महमूदाबाद रोड पर बढ़ चले। वार्तालाप पुनः शुरू हुआ। दीपक ने उत्सुकता से कहा—"संध्या ! मुझे अब इस संसार में तुम्हारे बिना बिलकुल अच्छा नहीं लगता। क्या तुम्हें भी ऐसा मालूम होता है ?"

संध्या ने दीपक की विकलता को देख उत्तर दिया—"निराश मत हो, दीपक ! हम लोग अब जल्द एक हो जायँगे।"

"मैं तुमसे जल्दी शादी करना चाहता हूँ। संध्या! मुझे तुम्हारे बिना बिलकुल चैन नहीं।"

संध्या ने बुद्धिमानी से उत्तर दिया—"मेरी समझ में नहीं आता कि हम लोग दूर भी हैं। शादी का मतलब होता है (Marriage of two hoarts) दो हृदयों का मिलाप, सो हो ही चुका है। समाज के आगे भी हम लोग अवसर आते ही शहनाइयों के शोर-गुल में ·····"

दीपक की समझ में संध्या की उक्ति न आई। उसकी विकलता बढ़ती ही गई। उसने पुनः कहना शुरू किया—"मैं चाहता हूँ कि हम लोग अभी से शादी कर लें, और एक साथ उठें-बैठें। तुम मेरे घर पर आकर रहो। और मैं···"

बात काटकर सन्ध्या मुस्किराती हुई बोली—"मैं तो तुम्हारी हो ही चुकी हूँ। जैसे मैं अपने घर में रहकर तुम्हारे पास रहती हूँ, वैसे ही तब भी रहूँगी। कोई फ़र्क़ न होगा। मुझे अपने घर में रहना या तुम्हारे घर पर चले आने में कोई अंतर नहीं दिखाई देता। घर की कुर्सी को चाहे कमरे में रख दो, चाहे आँगन में, कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता।"

"क्यों?"

"क्या फ़र्क़ पड़ता है?"

"कमरे में वह शोभायमान होती है, आँगन में वह (out of place) अव्यवस्थित लगती है।

"अव्यवस्था भी व्यवस्था की एक नई डिजाइन कभी-कभी

हो जाती है। प्यार में मिलन होता है, तो तड़पन नहीं। बोलो, क्या लोगे ?" संध्या ने मुस्किराकर देखा।

"मुझे तो बस मिलन चाहिए, मिलन। बस, तुम मेरे पास रहा करो।"

संध्या एकाएक गंभीर हो गई। दुखी होकर बोली—"दीपक!"

दीपक घबरा गया। उसने संध्या की आँखों में झाँका। उसे फिर सुनाई पड़ा। कर्ण-कुहर गूँज गए। वह तिलमिला गया—"दीपक! मुझे बहुत शोक है कि तुम इतना गिर गए। प्यार को परा काष्ठा का रूप तुम्हीं ने तो मुझे समझाया था, लेकिन उसे तुम स्वयं भूल गए। मुझे विश्वास न था कि मेरा दीपक विकलता में अपनी बुद्धि खो देगा। मैं जानती हूँ कि प्रेम में प्रतीक्षा की घड़ियाँ अत्यंत दुखदायी होती हैं। पर इतनी नहीं, जितना कि तुम्हारी बातचीत से मालूम पड़ता है। दीपक, तुम्हें मुझको पाने के लिये पुनः उतना ही उठना पड़ेगा। उसके पहले तुममें संसार से लड़ने की शक्ति नहीं है। तुम हार मानकर बैठ जाओगे। जानते हो, तुम्हें क्या करना पड़ेगा ?"

दीपक उसके मुख की ओर देखने लगा।

"तुम्हें आँधी तूफ़ान और बिजलियों के हाहाकार में मिलकर लड़ना होगा। साथ हो मरना और जीना होगा। प्रतीक्षा में मौत की घड़ियाँ गिननी पड़ेंगी। सब कुछ करना पड़ेगा। अभी से तुम घबरा गए हो। आगे क्या करोगे ?"

दीपक शोकमग्न हो गया। उसके हृदय को ठेस भी लगी, परंतु वह संध्या से कैसे बतलाता। संध्या ने उसको शब्दों की बौछार से भिगो दिया। वह अत्यंत लज्जित हो गया था। हृदय में तूफ़ान उठ गया। गति में तीव्रता बढ़ी। कार की स्पीडवाली सुई साठ से ऊपर जाने लगी। धीरे-धीरे पैंसठ-सत्तर होने लगी। वह चिल्ला पड़ा—"अब मैं चाहता हूँ कि यहीं हम लोगों का मिलन हो जाय।"

संध्या चिल्ला पड़ी—"दीपक! तुम पागल हो गए हो? ज़रा अक़्ल से काम लो।"

दीपक ने मुड़कर बग़ल में देखा, संध्या की आँखों में आँसू थे। उसने एक्सिलरेटर पर से पैर हटा लिया।

संध्या ने पूछा—"रुक क्यों गए?"

"मैं तुमसे इसी जीवन में मिलना चाहता हूँ।" उत्तर मिला।

"तो सुनो, अब घर लौट चलो। मेरी शादी होने के पहले ही हम-तुम कहीं चले चलेंगे।"

कार थोड़ा आगे बढ़कर मुड़ी। पुनः वही पुल दिखाई पड़ा। दोनो अपने-अपने घरों की ओर चल पड़े।

"शाम को मैं आऊँगी, तुम घर पर ही रहना।" संध्या ने मुड़कर कहा। दीपक ने सुना, और ख़ुशी में उछलते घर की ओर चल पड़ा।

---

[२४]

विनोद की स्थिति खराब होती ही गई। सुबह-शाम डॉक्टर साहब आ जाया करते थे। वह भी मुहल्लेवालों की कृपा से।

तार को पाकर वृद्धा अचेत होकर गिर पड़ी। गाँव में सनसनी फैल गई। लोग बुरी-बुरी बातें सोचने लगे। किशोर को साथ लेकर सरपंचजी चल पड़े। दूसरे दिन वह शाम को पहुँच गए। पुष्पा ने बहुतेरा कहा, पर लोगों ने उसे रोक लिया। वह हृदय पर पत्थर रखकर रह गई। शाम को उसे भी ज्वर चढ़ आया। रात में उसे जूड़ी भी बहुत सख्त आई। मारे ठंड के वह काँपने लगी।

इधर विनोद विचारों की गहराइयों से झाँक-झाँक डूब जाया करता था। बिस्तरा लगा था। गले तक धवल चादर ओढ़े, सिरहाने कुछ पुस्तकें रक्खे वह सामने की दीवाल की ओर टकटकी बाँधे देखता चला जा रहा था। पुष्पा का चित्र मुस्किरा रहा था। विनोद भी मुस्किरा पड़ा।

किवाड़ों से सरपंचजी ने सब कुछ देखा। फिर घबराकर बोल उठे—"बेटा! तुम्हें यह क्या हो गया है?"

विनोद चौंक गया। समझा डॉक्टर साहब आ गए लेकिन थे पिताजी। चरण-स्पर्श करने के लिये उसने उठने का प्रयास किया। पिता ने उसे प्यार से सुला दिया।

सामने टेबुल पर छोटी-बड़ी रंगीन कई शीशियाँ रक्खी थीं। उसमें से लाल रंगवाली शीशी विनोद ने माँगी। किशोर ने चम्मच से दवा फेटकर उसके मुख में लगा दी। विनोद ने घूँट-घूँट करके दवा पी डाली। पीते ही उसे क़ै हो गई। किशोर उसकी पीठ और गर्दन सहलाता रहा। दुनिया-भर का कफ़-पित्त एक साथ गिर गया। तमाम घर में बदबू आने लगी। किशोर ने झट उस पर राख डालकर उसे पोंछ डाला।

क़ै के बाद विनोद को खाँसी शुरू हुई, और खाँसी के साथ ताप-क्रम भी बढ़ने लगा। बुख़ार १०४° से १०५° हो गया। चेहरा तमतमा गया। आँखें बंद हो गईं। सारे शरीर से दाह और छटपटी की झलक आ रही थी। बंद पलकों से आँसू छन-छनकर टपकने लगे, जैसे कमल की पंखुड़ियों से ओस की बूँदें।

पुष्पा रात ही को उठी। देव-मंदिर में पहुँचकर वह कृष्ण-मूर्ति के सामने खड़ी हो गई। वह कुछ कहना चाहती थी, पर आँसुओं के वेग से उसका गला रुँध गया। दो क्षण वह रोती रही। वनमाली की आँखों में आँखें डाले वह दो क्षण चुपचाप रोती रही। आँसुओं का वेग थोड़ा कम हुआ। हृदय से विनय की एक धारा चली, और उमड़ती हुई कंठ तक आ गई।

उसके बाद वह अपने आपको न रोक सकी। रोती भी रही, गाती भी रही—

दीनदयाल विरद सम भारी,
हरहु नाथ मम संकट भारी।
पवन - तनय बल पवन - समाना;
का चुप साधि रह्यो बलवाना॥
... ...
... ...

वह विरह में फूटकर रो पड़ी। केवल कृष्ण ही का सहारा था।

सती पुष्पा गाती चली गई। कहीं दूर पर मुरली की ध्वनि सुनाई पड़ी। पुष्पा चौंककर देखने लगी। देखते-देखते कृष्ण की मूर्ति के अधर हिले। पुष्पा गद्गद होकर मूर्ति के चरणों पर लेट गई। जाने कब तक वैसी ही पड़ी रही। उठी, तो मुरली बाहर लहरा रही थी।

इधर डॉक्टर साहब आए। बोले, लड़के के ख़ून की कमी मालूम पड़ती है। इंजेक्शन देना पड़ेगा। शायद इसको कुछ अफ़सोस रहा करता है। आप लोग इन्हें छेड़ा मत करिए। तबियत की ख़ुशी ही इनकी असली दवा है।"

डॉक्टर साहब चले गए। प्रश्न उठा—"ख़ून कौन दे?" पिता तैयार हो गया। पुत्र ने प्रतिरोध किया। किशोर ने अपनी बाहों से ख़ून निकलवाकर भैया के इंजेक्शन के लिये दे

दिया। दूसरे दिन डॉक्टर साहब दो जने आए, और खून का इंजेक्शन दिया गया।

विनोद के स्कंधों के नीचे कखौरियों में कौड़ी निकल आई। कारण था कमजोरी। लोग परेशान हो गए। दवा से एक फ़ायदा होता, तो दूसरा नुक़सान।

लोगों ने अफ़वाह उड़ाई कि इस डॉक्टर ने एक मरीज को तीन दिन में मार डाला था। सब लोग आकर एक-एक नई बात कहने लगे। अंत में डॉक्टर बदल दिया गया। डॉक्टर सिनहा ने आते ही स्टेपटो माइसिन का इंजेक्शन दिया।

गाँव में पुष्पा रात-दिन देव-मंदिर में पड़ी रहती थी। चौथे दिन वह नहा-धोकर पुष्प लिए मंदिर में नित्य की तरह पहुँची। कृष्ण की ओर देखकर फूट पड़ी—"हे सुंदर! तुम इतने निष्ठुर हो गए हो? पीतवसनधारी! मुरली लेकर राग में झूमना ही क्या तुमने सीखा है? एक हिंदू ललना का संसार लुटा जा रहा है, और तुम हँस रहे हो? निर्दय! मेरी आँखों के आगे अँधियारा छा गया है। यह सब तुम क्या कर रहे हो?"

मृत्यु से अधिक कष्टप्रद मेरी इस आपदा को शीघ्र हरिए हे वनमाली! जग-त्राता, मेरा सिंदूर बिखरने न पाए। मेरी लाज तुम्हारे हाथ में है। मैं अब तुम्हारी शरण हूँ! तुमने कितनों को निर्दयता के कुचक्र से बचाया है। मेरी भी विनय एक बार सुनो!"

कृष्ण-मूर्ति के अधर प्रसन्नता से हिले। पुष्पा मुस्किराई। आँसू निरंतर गति से चले जा रहे थे।

"हँस रहे हो नाथ! संसार को रुला-रुलाकर हँसाना ही तो तुम्हारा काम है! हँस लो, जी-भर के, हँस-हँसकर रुलाते रहो।" वह पुनः रो पड़ी।

डॉक्टर सिनहा की दवा से विनोद को रत्ती-भर लाभ न हुआ। उसकी तबियत खराब होती ही चली गई। डॉक्टर के आते ही पड़ोसवाले विनोद के यहाँ भीड़ लगा देते थे। सब-के-सब दरवाज़े से डॉक्टर साहब को झाँका करते थे। उनके बाहर निकलते ही सबकी आँखों में उत्सुकता देख वह सिर नीचा किए बाहर चले जाते थे। इसी प्रकार पंद्रह दिवस बीत गए। विनोद ने बुरी तरह से खाट पकड़ ली। डॉक्टर निराश हो-होकर चले जाते थे।

---

[२५]

सारे संसार में ऊषा की ज्योति फैल गई। लाल साड़ी और नीले ब्लाउज में वह प्रकृति के रंगमंच पर झूम उठी। खेल शुरू हो गया। वह झूम-झूमकर नाचने लगी। फ़ोटोग्राफ़र अपने कार्य में जुट गए। उनकी पंक्तियाँ लगी हुई थीं। सब अपने कार्य में लगे थे। आडोग्राफ़र ध्वनि बटोरने में लगे थे। अरावली की कँकरीली पहाड़ियों का दृश्य था। विनोद के चले जाने से कला-प्रोडक्शन्स की रौनक़ चली गई थी। वह सबको अपने विनोद से हँसाता रहता था। सबको उससे दिलचस्पी थी। उसके चले जाने के बाद हीरो का कार्य सरूप ने पुनः प्रारम्भ किया।

ऊषा का पार्ट था। वह घोड़े पर सरपट दौड़ रही थी। सबने सावधान किया। वृद्ध कैमरामैन चिल्ला पड़ा—"सावधान! मिस राधा, चाल धीमी कर दो।"

सरूप चिल्ला पड़ा—"लगाम थामे रहना। मैं अभी आकर पकड़ लेता हूँ।"

सब लोग घबड़ा गए। घोड़ा सरपट भागा चला जा रहा

था। ऊषा के घोड़े के पीछे सरूप ने भी अपना घोड़ा छोड़ दिया, पर वह काफ़ी आगे निकल गई थी। सरूप ने लगाम ढीली की। घोड़ा सरपट भगा। दोनो अरावली की पथरीली चट्टानों पर उड़ते चले जा रहे थे। आगे एक जलकुम्भी से ढका हुआ वेशंत दृष्टिगत हुआ। घोड़े किनारे से चले गए। दोनो तीव्रता से चले जा रहे थे। सरूप के घोड़े ने चाल पकड़ी, पर ऊषा को वह पकड़ न सका। आगे एक नाला आया। ऊषा का घोड़ा फाँद गया, पर सरूप रह गया। उसे पीछे लौटकर दूसरे रास्ते से आना पड़ा। वह फिर पीछे छूट गया; पर उसने साहस न छोड़ा। ऊषा भागती गई, वह पीछा करता गया। एकाएक एक चट्टान आ गई। पत्थर की लम्बी चट्टान! उसी पर आगे-वाला घोड़ा फिसल गया। ऊषा का पैर रकाब से निकल गया। वह नीचे की घाटी में गिरकर अचेत हो गई। सिर फट गया। लोहू की धारा पिचकारी को तरह निकलने लगी। घोड़ा भी लड़खड़ाकर वहीं गिर गया! ऐसा गिरा कि फिर वह कभी न उठा। ऊषा की जाने क्या हालत हुई हो।

पीछेवाला घोड़ा भी टपटपाता हुआ आ गया। सरूप लगाम रोककर कूद पड़ा। इधर-उधर भौचक्का होकर देखने लगा। थोड़ा हटकर दो चट्टानों के बीच में उसको घोड़े की एक टाँग दिखाई पड़ी। वह उधर ही भग चला। बेचारा अश्व! मुख पर झाग लगी हुई थी। गर्दन और सिर पर के सब बाल ख़ून में सन चुके थे। दोनो रानों का जोड़ फट गया था। देखते-ही-देखते

घोड़ा चौंका, और फिर सिर पटककर रह गया। फिर वह कभी न उठा। उसका दम टूट गया।

सरूप तुरंत उठा। इधर-उधर की सारी चट्टानों में उसने राधा को खोजा, पर राधा उसे कहीं न मिली। दाएँ हाथ हटकर एक घाटी थी। वह उसी ओर बढ़ गया।

रक्त में लथपथ केश, लहूलुहान अंग और भीगा हुआ लाल अंचल। आँखें बंद थीं। पलकें खून से भीगी हुई। उसने एक बार आँखें खोलीं। पलक हिले, और फिर बंद हो गए।

सरूप देखते ही बेहोश-सा हो गया। ऊषा कदाचित् बच जाय, इसीलिये वह बाँहों में उसे उठा लाया। बाहों में ही वह लेकर कार तक पहुँच गया। सारे कलाकार दुखी हो गए। सब रोने-चिल्लाने लगे। राधा उनकी आशा थी—उनके भविष्य के महल की दीवार। उसके गिर जाने पर उन ईंटों का क्या होगा?

हवाई जहाज पर राधा को बिठाकर सरूप आकाश में उड़ चला। कितने पहाड़, घाटियाँ और मैदान देखते-ही-देखते आँखों से ओझल हो गए। अंत में वह लखनऊ में आकर रुक गया। पेट्रोल खत्म हो गया था। नीचे उतरना पड़ा। राधा की अवस्था भयानक थी। उसने टैक्सी बुला भेजी। कुछ देर बाद वे मेडिकल कॉलेज पहुँच गए। राधा स्पेशल वार्ड में भरती की गई। सभी डॉक्टर फ़ौरन् बुलाए गए। उन लोगों की एक मीटिंग हुई। सबने ऑपरेशन-रूम का इंतजाम करने

को कहा। उस समय फौरन् वह फ़र्स्ट एड में ले ली गई। चिकित्सा शुरू हो गई।

सुबह ऑपरेशन हुआ। ब्रेन नर्व तक चोट पहुँच चुकी थी। डॉक्टरों को विश्वास था कि रोगिनी बच चाहे जाय, पर नीरोग नहीं हो सकती। अच्छी होने पर शायद स्मृति खो देगी। लोग पागल समझेंगे, और कुछ दिन में वह मर जायगी।

मिस के० डो० ने उसे पहचान लिया। उसने डॉक्टरों को यह बतला दिया कि एक बार वह इसी हॉस्पिटल में आ चुकी थी। तब का उसने सिर में निशान दिखाया। चोट भी सिर में थी। स्मृति खो गई थी। सब लोग परेशान थे, आखिर माजरा क्या है? बार-बार मेंटल नर्व पर चोट आना।

टाँके लग गए। सरूर ने चारों ओर टेलीग्राम भेज दिया। लता और सेठ तिकड़मीलाल भी ऐरोप्लेन पर रवाना हो गए। दूसरे ही दिन समाचार-पत्र में मोटे-मोटे अक्षरों में आ गया था—'घोड़े से गिरकर फ़िल्म-स्टार की दुर्घटना!' नीचे वर्णन दिया था। लोगों ने उत्सुकता से पढ़ा।

खबर सारे देश में उदासी की फूँक मार गई। एक हफ्ते की बेहोशी के बाद सुबह के समय राधा ने आँखें खोलीं। पास में खड़ी सिस्टर के अधरों पर मुस्किराहट की लहर दौड़ गई। लता की अस्वस्थता बढ़ने लगी। वह दिन-रात अपनी बच्ची की तरह ऊषा का लालन-पालन कर रही थी।

फिर एक दिन······ अर्ध-रात्रि का समय था। सब रोगी

सो रहे थे। ऊषा को एक छींक आई, एक भयंकर छींक। सिर के टाँके खुल गए। वह चीख उठी। कराह से कमरा गूँज उठा। रोगिनियाँ उठ-उठकर बैठ गईं। सिस्टर ने डॉक्टर भाटिया को फोन किया। मिस के० डी०, कुछ नर्सें और डॉक्टर भाटिया शीघ्र उसके पास आ गए।

ऊषा बेहोश थी। उसकी हालत चिंताजनक हो गई थी। डॉक्टर ने निराश होकर मुख नीचा कर लिया। कुछ देर बाद उनके मुख से निकला—"नो होप!" मिस के० डी० को अत्यंत दुःख हुआ। जाने वह ऊषा को इतना क्यों मानती थी। उसे असह्य हो गया, और वह फूटकर रो पड़ी। लेकिन वह फिर उठी। तुरंत डॉक्टर कमला, डॉक्टर चौधरी और कुछ अच्छे लेडी-डॉक्टरों को बुला लाई। सबने रात्रि के दो बजे मीटिंग की। ऑपरेशन फिर से किया गया।

ऑपरेशन-रूम से एक चीख उठी—"ऑपरेशन टाक सेस फुल।"

"चियर यू डॉक्टर भाटिया, यू हैव चेन्ज्ड हर डेस्टिनी।" चारों ओर से आवाजें आने लगीं। लोगों ने डॉक्टर को खुशी से बधाई दी।

---

[२६]

शशि ने चुपके से बक्स खोलकर क्लब की सारी लड़कियों के फोटो निकाल दिए। पास में खड़ा रंजन उनमें से प्रत्येक को उठाकर देखने लगा।

"यह किसकी फोटो है?" रंजन ने प्रश्न किया।

"मिस आशालता की।"

"और यह?"

"यह हैं मिस संध्याकुमारी! आपने किसी को पसंद भी किया या यों ही?"

"दो अच्छी लगीं। एक तो यह, और एक वह, जिसमें......"

"कौन? मिस मोहिनी! वह तो बहुत हँसोड़ है। हर समय हँसा ही करती है। उसकी हँसी भी बहुत अच्छी लगती है। शायद आपको पसंद आ जाय।" शशि हँसते हुए रंजन की ओर देखने लगी। अंत में संध्या की ही फोटो चुन ली गई। शशि ने फोटो जाकर डॉक्टर साहब को दे दी।

'यह क्या है बेटा? किसकी फोटो है? शशि के पिताजी ने प्रश्न किया।

"मेरी एक सहेली की। यह रंजन भैया को बहुत पसंद आई।"

"अच्छा, तो तुमने अपनी भावज चुन ली है। पसंद तो बुरी नहीं है।" दोनो हँस पड़े।

कुछ देर बाद शशि ने कहा—"मुझे क्या, भैया को पसंद होना चाहिए।"

"देखो बेटी, रंजन को तुम्हें सगा ही जानना चाहिए, हालाँकि वह थोड़ा दूर है। और, दूर भी क्या है, बुआ का लड़का भाई के बराबर ही होता है। तुम लोग मिलकर रहा करो।"

"यह तो मैं करती ही हूँ, परंतु अब आप······"

"क्या मतलब?"

"आपको भी अब कुछ करना है, जो मैं नहीं कर सकती।"

"वह क्या?" उत्सुकता से डॉक्टर साहब शशि का मुख देखने लगे।

"वह है संध्या के पिताजी से रंजन के लिये बातचीत करना।"

"वह लोग स्वयं आएँगे। थोड़ा रास्ता देख लिया जाय।"

रंजन चुपचाप दरवाजे की आड़ से सुनता रहा। डॉक्टर साहब की राय देखकर वह ख़ुशी से उछल गया।

कृष्ण को पता लगा, और सेठ सागर को भी। दूसरे ही दिन वह सुबह डॉक्टर साहब के बँगले पर पहुँच गए।

शशि ने परिचय कराया। वह सेठ सागर को एकआध बार देख चुकी थी।

दोनो आदमी अन्दर के कमरे में गए। बातचीत हुई, सब तय

हो गया। दोनो की चिंता दूर हुई। डॉक्टर साहब ने चाय-नाश्ते के लिये कहा, पर सेठ सागर ने हँसते हुए टाल दिया। बोले—"हमारे यहाँ दस्तूर नहीं है कि हम लोग यहाँ का अन्न-पानी छुएँ।"

डॉक्टर साहब ने हँसते हुए कहा—"अरे साहब! आप भी क्या पुराने रस्म-रिवाजों को घसीटते चले जा रहे हैं। छोड़िए इन सब बातों को।"

सेठजी माला पर हाथ फेरते हुए बोले—"ये रिवाज ही तो हमारे सनातन धर्म को आबरू हैं। जबतक निभ सके, निभाना चाहिए फिर तो संकरवर्ण होना ही है।

डॉक्टर साहब हस पड़े। सेठ सागर उठ खड़े हुए। पहुँचाने के लिये डॉक्टर साहब तथा एक-दो और आदमी कुछ दूर तक गए। उसके बाद कार चल पड़ा। लड़कियों ने रूमाल हिलाए। सेठ सागर ने हँसकर देखा। फिर कार ओझल हो गई।

घर आते ही सेठ सागर ने पंडित को बुलाकर लग्न-विचार करवाया। दिवस रख दिया गया। डॉक्टर साहब को भी सूचना दे दी गई। कुछ दिन बाद शहनाई-बैंडवालों के पीछे लखनऊ शहर की सड़कों पर कारों का एक लम्बा जलूस-सा निकला। बीच में एक टूरिंग बाडी की ब्यूक कार फूल-माला से ढकी हुई चली जा रही थी। उसी में रंजन एक स्वर्ण-सिंहासन पर बैठा था। लड़कियों को भी कुछ कारें बीच में एकआध जगह थीं। जलूस जिधर से जाता था, लोग सड़क छोड़कर हट जाते थे। हर्ष और उत्सुकता से सबकी निगाहें दूल्हे पर टिक जाया करती थीं।

काशी और ऋषिकेश से पण्डित बुलाए गए थे। चारो ओर रईसों का जमघट था, और मध्य में दूल्हा-दुल्हन।

किनारा छोड़कर नाव एक अनजान प्रदेश की ओर चली जा रही थी। संध्या बीच में ही डूबकर मर जाना चाहती थी, पर......

"जल्दी कीजिए, लग्न बीती जा रही है।"

"जी हाँ, अब मंत्रोच्चारण में देर नहीं है।"

विवाह के मंत्र सन्ध्या के लिये अवसान के रुदन थे, और लग्न-मंडप में फेरे उसके लिये चिता के चक्र थे। घूँघट में वह रोती-सिसकती चली जा रही थी।

उसने दीपक की प्रतीक्षा की थी—चातक की तरह, पर दीपक अब तक न आया था। विवाह की बात हो जाने के बाद उसका घर से निकलना एकदम रोक दिया गया। वह अपने ही घर में क़ैदी बन गई।

उसे दीपक का आना, और कृष्ण द्वारा बरगला देना प्रतिहिंसा में झुलसा रहा था, पर थी विवश—अबला जो थी। उसे याद था, भूला न था—दीपक उसके घर आया, पिताजी ने कड़ककर पूछा—"किससे मिलने आए हो?"

"संध्या से।"

उसके बाद पिताजी ने उसकी ओर घूरकर देखा। वह घबड़ा गया। उसके अधर सूख गए। होठ को जीभ से चाटते हुए वह बोला—"अच्छा, फिर मिल लेंगे। कोई वैसा आवश्यक कार्य नहीं है।"

सेठजी कड़क उठे—"कार्य हो, या न हो, तुम अब उससे कभी नहीं मिल सकते।"

उसने सिर नीचा कर लिया था।

सन्ध्या के आँसू छलककर घूँघट के नीचे गिर पड़े। वह फिर विचारों में डूब गई। उसे याद हो आया—कुछ देर बाद दीपक ने फिर सिर उठाया था। सँभलते हुए वह बोला—"क्यों? आप कुछ नाराज मालूम होते हैं।"

"मैं कुछ नहीं सुनना चाहता। अब तुम चले जाओ, फिर कभी मत आना।"

फिर उसने कुछ न कहा। सोचा अलबत्ता। सोचता ही हुआ वह आगे बढ़ गया था।

सन्ध्या दुखी हो गई। निराश हो गई—कोई आशा न रही। दीपक और उसका मिलन क्या रुक सकता था? उसे मुस्किराहट आई। यह मुस्किराहट भयंकर थी। विचारों का एक तूफ़ान उठ गया। प्रश्न उठा, क्या वह संसार से जीत नहीं सकता? इन संसारियों को दूसरे के जीवन में हाथ अड़ाने का क्या अधिकार

चारों ओर से सखियाँ उसे पकड़े हुए थीं। आशालता समझा रही थी—"जो होना था……।" पर उसे कुछ भी न सुनाई पड़ा।

वह एकदम उठकर भाग जाना चाहती थी—काश दीपक एक बार टिमटिमा जाता?

उसके मुख पर तेज छा गया, आँखें गुस्से से लाल हो गईं, अश्रु गिरने बंद हो गए। वह शेरनी की तरह ललकारकर सबको अकेले नोच डालेगी, यही विचार बार-बार उसके हृदय में आने लगा। उसने एक बार उठने का प्रयास भी किया, पर·········

पर आशालता ने उसे दबा दिया। वह भी रो पड़ी—"बहन, ऐसी आग सबके जीवन में भड़का करती है। जरा धीरज से काम लो।" दोनों लिपटकर रो पड़ीं।

"मंगलं भगवान्विष्णु·········"

फेरे हो गए। शादी हो गई। बराती चले गए।

दुलहा-दुलहन कार पर बैठे। घंटे-भर में घर आ गए। सन्ध्या रास्ते-भर रोती-सिसकती गई, रंजन हँसता-खेलता गया। किसी के तार बजे, किसी के टूटे। वह रोती गई, आह भरती गई, वह हँसता और गाता गया। सन्ध्या की उर-वीणा में अरमानों के तार टूटकर वेदना के सातों में बदल गए।

---

[२७]

रेल धुआँ उड़ाती हुई चली जा रही थी। प्लेटफ़ार्म आ गया। उलझे हुए बाल, अस्तव्यस्त कपड़ों में वह उतर पड़ी। आत्मबल और तेज से गौरवान्वित उसकी गति में तीव्रता थी। मुख पर बिखरे हुए केशों को पीछे हटाती हुई वह......। उसके पग भूमि पर पड़ते ही न थे।

बस स्टेशन पर उसे कुछ ध्यान ही न रहा, अन्यथा......। वह कुछ देर किवाड़ों से देखती रही। उसने साहस बटोरा, और कक्ष में बढ़ चली। विनोद बिस्तर पर पड़ा हुआ था—पास में थे और लोग। वह झट अन्दर चली आई। उसे धोखा-सा हो गया—उसने जो कुछ देखा, स्वप्न था या......। स्वप्न! 'तुमने तो अपनी आँखों से देखा, फिर स्वप्न कैसा?' मन में प्रश्न उठा—विवेक निरोत्तर था। मन ने पुष्टि की—स्वप्न भी हो सकता है। अबला के प्रति ईश्वर इतना उद्दंड न बनेगा। वह तो स्त्रियों की रक्षा करता है।" उसका भ्रम परिपक्व हुआ। मन ने मनचाहा निर्णय किया—वह सपना देख रही है, और देखती चली जाय। वह चाहती थी कि यह घटना

स्वप्न बनकर ही रह जाय, तो अच्छा है। विवेक ने प्रतिवाद किया—नहीं ! यदि धोखा हो गया, तो जन्म-भर का पछतावा होगा। शायद विनोद बच जाय—सती ! उठ जाओ। प्रयास मत छोड़ो, शायद...।" विवेक के टॉर्च में दूर पर आशा की एक फीकी-सी झलक आई। उसी अधबुझी ज्योति की ओर उसके पग उठ चले।

जीवन के संघर्ष में निराश हो जाने के बाद मानव आशा की एक हलकी-सी तरंग भी पा जाता है, तो वह अपना जीवन-जहाज उसी में अड़ा देता है। काश.........।

उसकी भी यही दशा हुई। उसकी व्यथा चरम सीमा तक पहुँच चुकी थी—इसके आगे या तो मृत्यु या पुनः आशा ही थी।

उसने पन्द्रह दिवस तक निरन्तर उपवास किया था। वह वियोग में झुलसकर राख हो गई थी।

सन्ध्या के समय विनोद फिर बेहोश हो गया। तीन घंटे तक लोग चुपचाप बैठे रहे। निस्तब्धता छाई रही। फिर......

लोग हट गए, वह आ गई। विनोद ने आँखें खोलीं। उसकी ज्योति बहुत क्षीण हो गई, और अचानक उसके अस्फुट कंठ से निकल पड़ा—"कौन ? ऊपा !"

"प्रीतम !"

"ऊषा ? ऊ...पा..." उसने कराहकर करवट बदली।

"हाँ, विनोद ! मैं आ गई।"

"मैं तुम्हारे पास गया, पर......" वह पुनः कराह उठा।

"पीठ के नीचे तकिया रख दूँ ?"

नहीं ऊषा ! रहने दो......मैं अभी क्या कह रहा था ?..." वह फिर कराह उठा।

"तुमने मुझे एकदम भुला दिया था......" वह आसुओं से तर हो गया। अधबुझी हुई आँखें फिर हिलीं—"तुम्हारे दरबान से मुझसे..... खैर......"

वह एकाएक सतेज हो उठा—"ऊषा! यह क्या राज है ? तुमको वहाँ कौन ले गया ? वह घर तुम्हारा कैसे हुआ ? तुमने मुझे पहचाना क्यों नहीं ?" मुझे जल्दी बतलाओ ऊषा ! अब मैं दो घंटे का मेहमान हूँ। युवती ने उसकी ओर देखकर सिर नीचा कर लिया। वह फिर बोला—"सच बताना। मैंने जीवन में एक बार झूठ बोला था, उसी का यह नतीजा है।" युवती के आँसू छलछला आए। वह अपने को रोक न सकी। तुरंत चल पड़ी। कुछ देर बाद पुनः लौटी—आशा और उत्सुकता से। विनोद वैसे ही लेटा था।

विनोद की कहानी खत्म हो चुकी थी। उसने इस चलचित्र में एक अच्छा-सा अभिनय किया था। युवती घबराकर उसकी आँखों में देखने लगी। वह चुपचाप पड़ा था। प्रश्न उठा—क्या इसकी जीवन-कहानी खत्म हो चुकी ?

ये तो थी इनकी प्रीति-गाथा, विवेक ने निर्णय किया। वह आखें फाड़-फाड़कर विनोद की आँखों में देखने लगी। उसने

ठंडे शरीर को हिलाया-डुलाया। वह हिला, और मुस्किरा पड़ा। वीरांगना की तरह आँखों से अश्रुओं की एक बाढ़ आ गई। वह मुस्किराहट उसके लिये अमृत-वर्षा थी। वह हँस पड़ी, आँसू टप-टप गिर पड़े। आँसू चलते रहे, वह हँसती रही।

"रोओ मत ऊषा! एक मधुर गीत गाओ।"

"गीत!"

"हाँ, तुम गाओ, और मैं सुनूँ। तुम गाती जाओ, मैं सुनता।"

"मिलन का गीत?" वह मुस्किरा पड़ी—"हाँ, गाऊँगी, अवश्य गाऊँगी, खूब झूम-झूमकर गाऊँगी।"

"जब तक मैं फिर अचेत न हो जाऊँ, गाती रहो। दोनो संसार से अचेत होकर कहीं चले चलें। वहाँ मैं तुम्हारे गीत सुना करूँगा।"

"विनोद! धीरज धरो। तुम अच्छे हो जाओगे।" वह मुस्किरा पड़ी।

"कब? अब आशा मत दिलाओ। ऊषा। मुझे जाने दो।" वह मुस्किरा पड़ा।

"सुबह से तुम कुछ अच्छे लग रहे हो। एक नए डॉक्टर आए हैं, उन्होंने दवा भेजी है। पीते ही तुम अच्छे हो जाओगे।"

"विनोद को धीरज हुआ। थोड़ा रुककर वह एक बार चौंका, और कराहकर उठा, फिर गिर पड़ा।"

प्यार से गद्गद, आशा से भरपूर, भक्ति से ओत-प्रोत युवती ने एक पुड़िया गिलास में झट घोल डाली। चम्मच से फेरकर

उसने कहा—"यह दवा नहीं, अमृत है। पी लो, और उठकर संसार में खेलो-कूदो। अब मैं आ गई, फिर कभी न जाऊँगी।"

विनोद ने उसकी उँगलियाँ फँसाते हुए गिलास ले लिया। अधरों से लगाते हुए उसने देवी की ओर देखा।

उसका ताप-क्रम पुनः बढ़ गया। शाम को डॉक्टर साहब आए। मरीज को देखते ही वह खुशी से उछल पड़े। सबकी ओर हँसी से देखते हुए वह ज़ोर-ज़ोर से कहने लगे—"मरीज़ बच जायगा। दवा कामयाब हो गई।"

उसके बाद दो दिन तक ताप-क्रम एक जगह टिका रहा। तीसरे दिन से उतरने लगा। विनोद को उसकी चिकित्सा मिल गई थी।

वह दिन-दिन अच्छा होने लगा। मुहल्ले के घरों में आशा छा गई।

"विनोद बड़ा अच्छा लड़का है। भगवान् करे, बच जाय!" निस्तेज बूढ़ी आँखों ने आशीर्वाद दिया।

एक सप्ताह के बाद डॉक्टर आए, और बोले—"इनकी कमज़ोरी ही अब मर्ज़ है। मैं तीसरे-चौथे आया करूँगा।"

---

[२८]

संध्या की अरुणिम ज्योति संसार में थिरक रही थी। स्पेशलवार्ड में रोशनदान से छनकर लाल किरणें सामने बैठी हुई लता के ऊपर पड़ रही थीं। जीवन की ऐसी अँधेरी गली लता ने कभी न देखी थी। पर आशा का प्रकाश आ गया। थोड़ा देर ही में आया, तो क्या ?

"राधा !"

ऊषा उसकी ओर देखने लगी। उसकी स्मृति एकाएक जग गई। विचारों में वह खो गई, आँखें फिर बंद हो गईं।

"बेटी राधा !" स्वर गूँज गया।

उसके नेत्र खुले। सामने लता बैठी थी। आगे सुनाई पड़ा—"सरूप तुम्हारे लिए बहुत बेचैन था। अब तुम अच्छी हो जाओ, तो मैं उससे तुम्हारी......।"

ऊषा मुस्किराकर लजा गई। "शादी ! मुझसे ?" वह विचारों में खो गई......।"

"क्या मेरी शादी नहीं हुई है ?" दो क्षण वह चुप रही। स्मृति के टूटे हुए विशद मुक्ता सूनी माला में सजने लगे। उसे

एकाएक बात याद आने लगी। मेरी शादी अभी नहीं हुई? "फिर विनोद कौन था? उसने मुझे बंद क्यों किया था? शायद मैं भागना चाहती थी।" प्रश्न उठा—"क्यों?" वह फिर विचारों में डूब गई, कुछ देर बाद उत्तर मिला—"शायद उसने मुझसे अपनी शादी के बारे में छिपाया और तब मैंने......।" मन में प्रश्न धीरे-धीरे उठने लगे। उत्तर भी मिलता गया।

लता ने उसके सिर पर हाथ फेरकर उसका मुख चूम लिया। ऊषा परेशान हो गई—"मुख चूमने का क्या अर्थ है? सिस्टर, दूर से बात करो।" उसने लता को फटकार दिया!

लता घबरा गई। बोली—"मैं सिस्टर नहीं, तुम्हारी मा हूँ, मा! ऊषा को याद था, उसकी माँ पंजाब-हत्या कांड में ही मर चुकी थी। वह तुरंत कड़क उठी—"तुम मुझे भ्रम में क्यों डालती हो? सिस्टर मेरी माता मर चुकी है। और......।" वह रुक गई, और फिर घबरा कर कहने लगी—"मेरी शादी भी तो हो चुकी है।"

लता की आशाओं पर पानी फिर गया था। उसके मुख से निकल पड़ा—"राधा!"

राधा पुनः अचेत हो गई थी। डॉक्टर आए, बोले मरीज को मानसिक कष्ट हुआ है। इनको कुछ भी कहना न चाहिए।" दोष लता का था। उसकी दोषी आँखें नीची हो गईं। डॉक्टर का लता पर ही संकेत था।

वैसे अब ऊषा काफ़ी अच्छी हो चली थी। कमज़ोरी के कारण उसे बेहोशी आ जाया करती थी।

दूसरे दिन प्रातःकाल आठ बजे कर्टेन हटाकर एक नवयुवक भीतर आ गया। ऊषा ने थोड़ा झिझककर देखा—उसे युवक की चाल-ढाल अच्छी न लगी। आँखें फाड़-फाड़कर वह देख रहा था।

ऊषा को क्रोध हो आया। उसके सिर में दर्द होने लगा।

उसने घंटी बजाई। सिस्टर आ गई, सरूप चला गया।

"कौन ? मिस के० डी०।"

"शुक्रिया ! तुम्हें मेरा नाम तो याद है। कहो···" वह सदा की तरह मुस्किरा पड़ी।

"ये बिना बताए लोग क्यों अंदर चले आते हैं ? उनको कह दो, बाहर चले जायँ।"

"अरे ! सरूप बाबू को तुम भूल गईं। कला-प्रोडक्शान्स के डायरेक्टर···।"

"कला-प्रोडक्शान्स।" उत्सुकता में वह खो गई।

"हाँ, जिसमें तुमने हीरोइन का पार्ट किया।"

'मैंने !' दोनों एक दूसरे की तरफ़ उत्सुकता से देखने लगीं। कुछ रुककर वह बोली—"मैंने पार्ट किया !" फिर कुछ रुककर "पिक्चर में ?"

"हाँ, 'आकाश के फूल' और 'आवारा' में तो तुम्हारा बहुत बहुत सफल अभिनय है।"

ऊपा और अधिक घबरा गई—वह अभिनेत्री थी, उसने बड़ा सफल अभिनय किया, कला प्रोडक्शन्स में वह काम करती थी। उसकी समझ में कुछ नहीं आया। बस, उसको इतना याद था कि वह कोठे से गिर पड़ी थी। उसके बाद का उसे कुछ भी पता न था।

लता समझ गई कि जिस डाली को उसने पकड़ा था, वह अबकी बार की चोट में टूट गई थी, जिस पौधे को उसने सींचा था वह उसी के लिये काँटा हो गया। वह रो-पीटकर रह गई। वात्सल्यता के नाते वह जहाँ भी रहे, सुखी रहे। यह सोचकर वह सन्तुष्ट हो गई। शायद ऊषा को अपनी खोई हुई दुनिया मिल जाय।

ऊषा अच्छी हो चली। एक दिन उसने अपना सूटकेस खोला नीचे एक फ़ाइल थी, और उसमें वही विनोद का पत्र। उसने सरसरी निगाह से पढ़ना शुरू किया।

"ऊषा !

यह एक दर्द भरी·········इस पार तुम, उस पार·········तुम्हें लूटकर मैंने ठुकराने की सोच ली थी।·········ऊषा! मेरी शादी·········घाघरा नदी के किनारे·········मैं भटकता रहा, पर·········और आखिर आज·········

विनोद (आवारा)

उसने पत्र को बार-बार पढ़ा। कुछ-कुछ समझ में आने लगा—"मेरे लिए विनोद (आवारा) बन गया था। मैंने उसे न

पहचानकर ठुकरा दिया। बेचारा क्या सोचता रहा होगा? अब कैसा होगा, कहाँ होगा। जाने मारा मारा भटकता होगा। वह बंबई से चुपके से भाग गया—क्यों? उस पर अवश्य कोई आफ़त आई होगी।

उसका दोष ही क्या था। मैं विनोद को पहचान न सकी। वह मुझसे सचमुच प्रेम करता है। शादी में उसका जोर ही क्या था? निरा बच्चा! विचारों ने हृदय में एक टीस पैदा कर दी। विनोद के प्रति उसे प्यार-सा हो चला। प्रायश्चित का यही साधन था, फिर हृदय की लगन तो हो चली थी। विचारों की एक धारा-सी बही चली जा रही थी।

इतने में स्वरूप आ गया। धारा टूट गई, स्वरूप ने प्रश्न किया—"राधा! यह पत्र कैसा?"

ऊषा ने पत्र छिपा लिया।

"आपको इससे मतलब?" वह गम्भीर हो गई।

'पत्र मुझे दिखा दो, वर्ना ……।' वह कड़क उठा। ऊषा भयभीत हो गई।

स्वरूप ने आगे बढ़कर पत्र छीन लिया।

"मेरा पत्र मुझे वापस दो। यह अन्याय है।"

"शटप"

"शरम नहीं आती है, डूबकर मर जाओ। स्त्रियों के गुप्त पत्र छीनकर पढ़ना……" वह चिल्ला पड़ी—"सिस्टर…… डॉक्टर……" दो क्षण में उसके बिस्तरे के पास जमघट-सा हो

गया। लोग कभी ऊषा, तो कभी स्वरूप की ओर निहारने लगे।

भीड़ को चीरती हुई एक सिस्टर आकर खड़ी हो गई। सब लोग उसकी ओर देखने लगे। उसने डॉक्टर भाटिया को ऊषा के बारे में वास्तविकता बता दी।

स्वरूप ने पत्र पढ़कर सब को सुना दिया। लोग ऊषा के मुख से भी कुछ सुनना चाहते थे। डॉक्टरों ने एक बार उसकी ओर भी देखा।

ऊषा ने धीरे-धीरे कहना शुरू किया—'इन साहब को मैंने कभी नहीं देखा है। इधर चार-पाँच दिवस से ये मेरे कम्पार्टमेंट का चक्कर लगाया करते थे। आज मैं अपना यह पत्र पढ़ रही थी। इन्होंने मुझसे छीनकर······।"

स्वरूप कड़क उठा—"बिलकुल झूठ !"

लोग उसकी ओर देखने लगे। वह कहता गया—"यह मेरे साथ मेरी फ़िल्म-कम्पनी में हीरोइन रह चुकी है।"

ऊषा की ओर मुस्कराकर उसने इशारा किया आप ही हैं मिस राधा ! 'आकाश के फूल' और 'आवारा' की हीरोइन।"

ऊषा फूटकर रोने लगी। उसने सिर नीचा कर लिया। आँसू फ़र्श पर गिरते चले जा रहे थे।

डॉक्टर ने बीच में ही रोक दिया—"मि॰ स्वरूप आपको जो कुछ कहना हो, फिर कहिएगा। आप हमारे पेशेन्ट को डिस्टर्ब नहीं कर सकते। यू प्लीज़ गेट आउट।"

"मुझे कुछ कहना नहीं है। ऐसी तो लड़कियाँ मैंने बहुत देखीं हमारे स्टूडियो के गेट पर कितनी भूका करती हैं। लेकिन……।"

"एनी हाऊ। इस वक्त, आप चले जाइए।"

"अब मैं जा रहा हूँ। लीजिए अपना पत्र।" उसने विरक्ति से ऊपा की ओर देखा।

पत्र देकर वह चला गया। साथ में लता और सेठ तिकड़मी-लाल भी।

---

[२९]

सहसा वह रुका। उसने सिगरेट जलाकर अधरों से लगा ली।

थोड़ा आह लेकर—'श्वेताम्बरी रानी!' तू भी जलती है, मैं भी। दोनों जुग-जुग से जलते चले आ रहे हैं।" धुआँ आकाश में फैल गया।

सरिता के किनारे-किनारे वह चला जा रहा था। किस ओर, यह उसे स्वयं पता नहीं था, बस वह चलता जा रहा था, चलने में उसे शांति मिलती थी। संध्या चली गई—रात्रि चाँदनी का साज लेकर आ गई। सामने एक शिलाखंड था। उसी पर वह बैठ गया। घंटों बैठा रहा.........

बगल वाली सड़क पर एक कार रुकी, ड्राइवर उतरकर टहलने लगा। वह दूर तक चला गया।

शशि भी अपनी सहेलियों के साथ उतर पड़ी। हाथ में हाथ डालकर वह सरिता की ओर बढ़ने लगी। शिलाखंड पर ज्योत्स्ना नाच रही थी। सब उधर ही बढ़ चलीं। आशालता एकाएक रुक गई। सूनी रात थी—सबकी सब डर गई। सामने की

"बस, बहुत हो गया, शशि ! अब रहने दो।"

शशि की आँखों से आँसू छलक आए। दीपक ने उसकी आँसू-भरी आँखों में असह्य वेदना पाई। उसने शशि के बालों में अपनी उँगलियाँ उलझाकर उसे चूम लिया। शशि ने आत्म-समर्पण कर दिया।

"चाँदनी रात है दीपक !" वह आकाश की ओर देखने लगी। "जोन्हियाँ भी उगी हुई हैं।" वह सिसकने लगी—"इधर देखो, तुम्हारी शशि मुस्किरा रही है।" उसने दीपक की ओर देखा—"कहाँ खो गए हो, दीपक !"

वह अचानक चौंक उठा—"खो गया ?" थोड़ा रुककर—"कौन, मैं ?" वह मुस्किराने लगा। फिर थोड़ा रुककर—"हाँ, शशि ! मैं खो गया हूँ। जाने कब से खो गया हूँ। बहुत दिन हुए...... !" उसने एक लंबी-सी आह भरी—"बहुत दिन हुए मेरे ही ऐसा एक लड़का ट्रेन में जाकर बैठ गया। ट्रेन चल पड़ी—आगे था कान-पुर। मैं सँभलकर बैठ गया।"

शशि घबराकर पूछ बैठी—"वह लड़का या तुम ?" वह उसके मुख की ओर देखने लगी।

"मेरे और उसमें कोई फ़र्क नहीं है। मुझी को समझ लो। हाँ, तो मैं कानपुर के आते ही सँभलकर बैठ गया। गाड़ी रुक गई। स्टेशन की चहल-पहल थी। हमारे कम्पार्टमेन्ट में एक लड़की आकर बैठ गई।

"मैंने अखबार में मुख छिपा लिया। लड़कियों से मुझे झिझक

थी। मैं एडवरटिज़मेन्ट-कालम में निगाहें दौड़ाता गया, वह मुझे देखती रही। झूठ क्यों बोलूँ, मैंने भी अखबार की ओट से उसे कई बार छिपकर देखना चाहा, पर थे आस-पास लोग।

"मैं विचारों में उलझ गया था, अखबार हाथ से छूटकर गिर पड़ा। उसने मुझे देखा, मैंने उसे।" वह रुक गया।

शशि सिसकने लगी—"यह तुम क्या कहते जा रहे हो, दीपक? कोई स्वप्न देख रहे हो, या ...।" उसने दीपक की ओर वेदना से देखा।

दीपक ने कहना पुनः आरम्भ किया—"मैं उसे देखता रहा, वह मुझे। हम दोनों एक दूसरे को एकटक देखते रह गए। अतीत की स्मृति मेरी आँखों में नाच गई। प्रश्न रह-रहकर उठने लगा—हृदय, तू सच बता, क्या तू इससे मिल चुका है? कहाँ? कब? मैं अतीत की गहराइयों में खो गया, तब मुझे एक स्वप्नवत् स्थिति में एक झलक-सी मिली। मुझे इटैली और आल्प्स की झाँकी मिली। वहाँ जैसे कोई मुझे मिल चुका था। जान पड़ा—जैसे मैं इसके साथ स्केटिंग कर चुका हूँ, खेल चुका हूँ, हँस चुका हूँ, और काफी दिन तक रह चुका हूँ। वह सुंदर थी, मुझसे प्रेम करती थी, और मैं उससे खेलता रहा। एक दूसरी सुन्दर लड़की से मेरी शादी हो गई। सेलोना जन्म-भर अकेली ही रह गई। वह मेरी याद में तड़पती रही। वह बरसों रोती रही। इसी में उसकी जिंदगी कट गई। मुझे स्वप्न की गहराइयों में जाने क्या-क्या याद आने लगा।

बाद में अफ्रिका के घने जंगलों में वह चली गई। देशाटन करने के लिये मैं चलकर उसी जंगल में भटकता हुआ पहुँच गया। वहाँ की जंगली जातियों ने मुझे पकड़कर बाँध दिया। पास ही में थी मेरी ब्याहता। वह भी चित लेटी रही। वे आग के शोले ले-लेकर आ गए।

"एकाएक चीख जंगल में गूँज गई। जंगली लोग हटकर खड़े हो गये, और जिसको मैंने सदा से ठुकराया था, वह आकर मेरे सामने खड़ी हो गई। मुझसे कुछ कहते न बना।

"मैंने साहस कर उसकी ओर देखा। आसुओं से गाल तर थे, आँखें भीगी हुईं। मेरे मुख से अनायास निकल पड़ा—'से··लो···ना!' उसने हम दोनो को सकुशल वहाँ से निकाल दिया। उसके बाद वह मेरी तरफ घंटों देखती रही। मैं चलने लगा, उसने मुझे रोक लिया। हम दोनो रुक गए, मुड़े, और हमारे देखते-देखते वह समुद्र की गहराइयों में कूद पड़ी। हम दोनो विषाद में चीख उठे। उसने एक बार मेरी ओर देखा। मैंने हाथ के इशारे से बुलाया, पर वह बढ़ती गई। मैं चिल्ला उठा—'सेलोना, come back, सेलोना!' आवाज समुद्र की तरंगों में विलुप्त हो गई। "'We will meet in the next coming life."' तरंगों से आवाज झूमती हुई मेरे कानों से टकरा गई। वह भी मेरी तरफ देखती हुई आगे बढ़कर खो गई—उन्हीं तरंगों में।"

दीपक चुप हो गया। शशि ने एक लंबी साँस ली। वह फिर

कहने लगा—"वही, बिलकुल वही शकल थी। मेरा हृदय प्रेम में उमड़ने लगा। मैं उसकी ओर अनायास खिंचने लगा। मेरे हृदय में गुदगुदी-सी मच रही थी। यह वही सेलोना थी ? मेरे मन में प्रतिक्षण उत्सुकता बढ़ने लगी। हम लोग अब तक एक दूसरे को देखते रहे। फिर मैं आगे हाथ बढ़ाकर उसकी ओर चलने लगा। वह खड़ी होकर मेरी ओर बढ़ने लगी। वह सहसा चौंक पड़ी, झिझकी और लजाकर बैठ गई। फिर हम झाँसी तक एक दूसरे को देखते चले गए।

"दो महीने बाद कॉलेज खुले। बरसात के दिन थे। मैंने B. A. प्रीवियस में ऐडमिशन कराया। पानी रिमझिम करके बरस रहा था। एक कार आकर मेरे पास रुक गई। हरी साड़ी और नीले ब्लाउज में वह उतर पड़ी। यह वही लड़की थी, जो मुझे ट्रेन और सपनों में उससे पहले कई बार मिल चुकी थी।

"फिलासफी में वह मुझे मेरे ही क्लास में मिली। मैं उससे प्रेम करने लगा।" वह रुक गया।

शशि ने आँखें बंद कर लीं। पलक खुलते ही आँखों से आँसू छल पड़े।

वह आगे कहता गया—"उसके बाद...ऊषा... विनोद...वह दिल्ली...वहाँ से चार-पाँच मास बाद...हम दोनों...उसकी शादी...।

"मैं निराश होकर लौट आया। प्रतिशोध की भावना को मैंने

दबा दिया, पर···। रात्रि का समय था, मैं दीवार फाँदकर उसके पास पहुँच गया। चाहता, तो मैं उसे लेकर कहीं चला जाता, पर वह कुल की प्रतिष्ठा रखने लगी—पिताजी क्या कहेंगे, घर-वाले क्या कहेंगे? हमको देखकर समाज में और लड़कियाँ भी ऐसा ही करेंगी आदि बातें वह कहती रही। मैं कुछ देर सुनता रहा।

"शादी का दिवस मुझे मालूम था। मैं कहीं भाग जाना चाहता था—दूर, बहुत दूर—जहाँ संसार की छाया मुझ पर न पड़ सके। वृक्ष और आकाश भी न देख सकें। मैं लोनलीनेस चाहता था, मेन्टल-पीस चाहता था। इसी को पाने के लिये मैं एक सप्ताह पहले ही नैनीताल चला गया—शांति की खोज में, पर वह मुझे न मिली। मैं ननीताल की ऊँची-नीची पहाड़ियों में भटकता रहा। मैं झीलों के किनारे-किनारे भागता रहा—केवल शांति के लिये।

"विवाह के दिवस आ गए, मेरी उत्सुकता बढ़ती गई। मेरे मस्तिष्क में तूफान-सा मच उठा, मैं पागल हो गया। सेलोना अब दूसरे की हो जायगी, उसे आशीर्वाद तो देना ही होगा। मन में द्वन्द्व प्रतिद्वंद्व होता रहा। प्रश्न उठते और समाधान होते रहे।

"शाम की गाड़ी से मैं चल पड़ा। लखनऊ-स्टेशन से टैक्सी ले मैं विवाह के दिवस पहुँच ही गया। क्या मेरे हाथ उठ सकेंगे? क्या मैं उसे किसी के साथ छोड़ सकूँगा? आशीर्वाद

देकर विदा देना तो……ऐसे ही प्रश्न मेरे मन में उठ रहे थे।

"मैं कार खड़ी करके दूर से बरात देखने लगा।

"सोफ़े-सेट लगे हुए थे। फ़र्श पर चाँदनी बिछी हुई थी। कुछ लोग ताश खेल रहे थे। कुछ लोग नर्तकी का गाना सुन रहे थे। कहीं ग्रामोफ़ोन बज रहा था। कहीं गप-शप और लोकल हाँकी जा रही थी। कुछ लोग हँस रहे थे, कुछ कोच पर लेटकर बातें कर रहे थे।

"दूल्हा बीच के ऊँचे मखमली सोफ़े पर बैठा हुआ था। कुछ लोग पंखा झल रहे थे, जैसे वह गर्मी से झुलसा जा रहा हो। मैं उसे बहुत देर तक देखता रहा। जेब में हाथ गया, पर मैं सहमकर रह गया। वह रह-रहकर मुस्किराता रहता था, मैं रह-रहकर झुलसा जा रहा था।

"मैं अधिक न देख सका। फ़ौरन् साठ-सत्तर मील की स्पीड से कानपुरवाली सड़क पर बढ़ चला। कानपुर के कुछ आगे पहुँच चुका था। आगे जाने क्या हो रहा हो? उत्सुकता पुनः बढ़ी।

"मैं संसार से भागकर कहाँ जाता, कोई स्थान भी तो नहीं था। और जाना ही था, तो उसके लिये बहुत समय था। मैं फिर लौट पड़ा। बरात में कुछ ख़ास-ख़ास लोग बैठे थे। शराब के प्याले चल रहे थे, तवायफ़ें झूम-झूमकर नाच रही थीं। लोग नशे में बेहोश हो रहे थे।

"मेरी सेलोना की शादी हो रही थी। मैं ख़ुश था। उस जन्म में मैंने तड़पाया, वह तड़पी। अब मैं तड़प रहा था, और उसके तड़पाने की बारी आई।

"लग्न-मंडप में उसकी शादी हो रही थी। सब लोग अस्त-व्यस्त थे। मुझे किसी ने न देखा, जिसने देखा, उसने परवा न की। मैं पुनः कार के पास आकर खड़ा हो गया। हृदय में विचारों का तूफ़ान बढ़ता ही जा रहा था। उस तूफ़ान में मुझे सारा संसार आकाश में खोता हुआ दिखाई देने लगा। मैं अपने को न रोक सका। मैं क्षण-भर के लिये पागल बन गया। दूल्हे को मैं मार डालना चाहता था, इसीलिये मैं आगे बढ़ गया। परंतु उसे देखते ही मुझे दया-सी आ गई। वह भोलेपन से मुस्किराता चला जा रहा था, उसे मालूम न था कि उसकी मौत, उसका काल उसके सामने खड़ा है। मुझे उसके अनजानपन पर दया आ गई। मैंने दोनो को मन-ही-मन आशीर्वाद दिया। फिर मैं वहाँ से चल पड़ा—उसी शांति की खोज में।

"विंध्याचल में, नैनीताल में, शिमला के पहाड़ों में, नदियों की घाटियों में, नैपाल की तराई में—कहाँ-कहाँ नहीं, मैंने वीरान जगहों को छान डाला, मुझे कहीं सुनसान न मिला। मुझे कहीं शांति न मिली।"

वह उँगली से संकेत करके बताने लगा—"यही वह शिला-खंड है, जिस पर हम प्रीति के गीत गाया करते थे, वह सामने की तरंगें हैं, जिनमें हम लोग कौमुदी में झूमा करते थे।

वह प्रीति की नाव न-जाने कहाँ खो गई। शशि! मुझसे नफरत करो। मैं दूसरी लड़की से प्रेम करता हूँ।"

उसने शशि की आँखों में कातरता से देखा। वह सिसक रही थी। फूटकर रो पड़ी, देर तक रोती रही। कुछ देर बाद वह दीपक के गले में हाथ डालकर, उसके शरीर से सटकर बैठ गई। चाँदनी रात में दोनो रोते रहे। समय अधिक हो चुका था।

वे दोनो उठे, और साथ-साथ चल पड़े।

---

[३०]

"पुष्पा ! यह तुमने अच्छा नहीं किया ?"

पुष्पा ने आँखें नीची कर लीं, वह फिर कहने लगा—"तुमने मुझे मेरी क़िस्मत पर छोड़ दिया होता, तो अच्छा था। ऊषा के बारे में तुमने जान लिया है, अब तुम मेरे साथ जन्म-भर दुखी रहोगी। सौत की मीठी-मीठी याद तुम्हें सताया करेगी।"

"मुझे सौत का डाह बिलकुल नहीं है, मुझे तो बस, आपकी ख़ुशी चाहिए।

"आज जिसमें......।" फिर पीड़ा.......साँस बटोरकर वह कहने लगी—"और यदि ऊषा यहाँ आ जाय, तो मैं उसकी पूजा करूँगी।"

विनोद हँसकर कहने लगा—"उसने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है, जो पूजा करने पर उतारू हो गई हो।" पुष्पा अपनी बातों से ही बेवक़ूफ़ बन गई थी। वह लजाकर मुस्किरा पड़ी।

बाहर से आवाज़ आई—"विनोद !"

"कौन है ? ए, ज़रा जाकर देखो।" विनोद ने किवाड़ की ओर हाथ बढ़ाया, पुष्पा बाहर चली गई।

दोनो में कुछ Formal बातें होती रहीं, उसके बाद साथ-साथ वे विनोद के पास चली आईं।

विनोद की उत्सुक आँखें ऊषा की आँखों से टकराईं। दोनो मौन हो गए। एक मूक संवाद-सा होने लगा। देखते-ही देखते दोनो की आँखों में आँसू आ गए। ऊषा को विनोद की बातों में सचाई झलकने लगी। वह आगे बढ़ी, पुष्पा दरवाज़े के पास खड़ी हो गई। विनोद ने उसका हाथ पकड़ लिया, ऊषा लजाकर नीचे देखने लगी। प्यार की गुदगुदी धीरे-धीरे हिलोरें लेने लगी। ऊषा आनन्द-विभोर हो गई। वे बहुत देर तक बिना कुछ बोले बैठे रहे।

पुष्पा समझ गई। आगे बढ़कर बोली—"मेहमान का आदर-भाव किया जाता है कि........"

दोनो लजा गए। ऊषा हाथ छोड़कर ठीक से बैठ गई। विनोद क्षण-भर के लिये विचारों में डूब गया।

"विनोद!" ऊषा ने धीरे से कहा—"अब मुझे तुम्हारी तरफ़ से कोई भ्रम नहीं है।"

"कैसा भ्रम?" उसने प्रश्न किया।

"तुम्हारी शादी के बारे में जानने के बाद मैं तुमसे नफ़रत करने लगी थी, पर मैं नासमझ थी। नहीं जानती थी कि प्यार सारे बंधनों को भी तोड़ सकता है।"

"कैसे?"

"इसलिये कि प्रेम की धारा किसी निश्चित स्थान से नहीं, किसी निश्चित दिशा में नहीं, और किसी निश्चित पथ की ओर नहीं बहती। सांसारिकता जहाँ ख़त्म होती है, वहाँ से वह आगे बढ़ती है। संसार की सीमाओं के पार, समाज के बंधनों से दूर, किसी अनजान जगह यह अपनेआप पनपने लगता है!

तुम्हारी शादी हो चुकी है, पर तुम मुझे अब अधिक चाहने लगे हो। मेरी धड़कनों से, तुम्हारी आहों से, जिसने तुम्हें मरीज़ बना दिया है; तुम्हारे उस पत्र से, जो तुमने मुझको बम्बई में दिया था, इन सबसे मुझे यह विश्वास है कि तुम मेरी तलाश में थे। और इसीलिये मैं आ गई, रुक न सकी। विनोद! मैं रुक न सकी!···

दोनों की आँखों में आँसू भर आए। पुष्पा यह सब कड़ुई दवा की तरह पीती गई। उसके हृदय में क्रोध, जलन और ईर्ष्या जाने कहाँ से आ गए। ऊषा को प्रथम बार देखते ही उसे शुबहा हो गया था, पर वह बोली कुछ न थी। ऊषा और विनोद में वार्तालाप चलता रहा।

"ऊषा!" विनोद ने प्यार-भरे नेत्रों से देखा—"तुम्हें छोड़कर अब मैं कहीं नहीं जा सकता। संसार हमें अब अलग नहीं कर सकता। अब हम लोग मिलकर ही रहेंगे। भटके बहुत, बहुत भटके, पर अंत में मिल गए।"

पुष्पा चुपचाप सिसकती रही। वह न-जाने क्या-क्या सुनती

चली जा रही थी। चाहती, तो ऊषा की चोटी नोच लेती, और मार-कूटकर घर से निकाल देती, परंतु पतिव्रता पति के सुख-स्वप्नों को खंडित कैसे करती ? वह चुपचाप दरवाजे के पास सुनती रही।

"अब मैं तुमसे जल्द......" वह पुष्पा की ओर देखकर चुप हो गया।

ऊषा ने मुस्किराकर पूछा—"कहो, जल्द क्या ? क्या कहकर रुक गए ?"

पुष्पा चुपचाप चली गई, शायद उसकी वजह से वार्तालाप में बाधा होती हो।

"तुम मुझसे शादी कर लो ऊषा !" ऊषा की ओर देखते हुए—"यों तो शादी हमारी हो चुकी है, परंतु......" कुछ रुककर—"पुष्पा को कैसे हटाया जाय ?"

"विनोद !" ऊषा ने विनोद की ओर देखकर कहा—"पुष्पा तो तुमको चाहती होगी, तुम उसे हटा सकोगे ? कैसे हटाओगे ?" आँसू भरकर—"मैं जानती हूँ कि वह तुम्हें बहुत चाहती है, और तुम उसे ठुकराते रहते हो, यह ठीक नहीं। अब तुम उसको प्यार करो। प्यार करके देखो, उससे तुमको बहुत कुछ मिलेगा। मुझे कुछ नहीं चाहिए।" विनोद के हृदय में एक गहरी ठेस लगी।

"मुझे कुछ नहीं चाहिए ? ऊषा ! यह तुम क्या कह रही हो ?"

ऊषा आँसुओं से भीगती चली जा रही थी।

"ऊषा !" विनोद ने पुकारा।

"........" वह चुपचाप रोती रही।

"ऊषा ! यह तुम क्या कह रही हो ? मैं मर जाता, तो अच्छा था, पर तुम्हारी आँखों में आँसू न देखता। ऊषा ! इधर आओ।" स्वयं पास जाकर—"मैं तुम्हें संसार में अकेला नहीं छोड़ सकता। जाने तुम कहाँ-कहाँ भटका करोगी। मैं तुम्हें अकेले नहीं जाने दूँगा।"

"अब मुझे जाने दो। एक अबला की तड़पन मैं नहीं सह सकती ! मुझे मत रोको विनोद !" उसने मुँह फेर लिया।

विनोद ने घसीटकर अपने सीने से लगा लिया। बोला—"संसार कुछ भी कहे, अंधा समाज कुछ भी कहे, मैं तुमको अपनी बनाकर रक्खूँगा। समाज ने हम दोनों के ऐसा थप्पड़ मारा है कि जीवन रोते-रोते कट जाय, तो भी घाव नहीं मिट सकेगा। चुपचाप बैठना कायरता है। तारीफ तब होगी, जब यही थप्पड़ समाज के ठेकेदारों को वापस कर दिया जाय। उन्हीं की फेंकी हुई कीचड़ उन्हीं पर उछाली जाय।

"पुष्पा ने मेरा शरीर ले लिया है, पर तुमने तो उससे भी क़ीमती वस्तु ख़रीदी है। हृदय पर अधिकार होना शरीर के अधिकार से बहुत ऊँचा है। पुष्पा लाख जन्म इसे नहीं पा

सकती। यह हृदय तुम्हारा ही रहेगा, और इसीलिये मूर्ति, मंदिर और पुजारी कहीं संसार से दूर चले जायँ, तो पूजा सफल होगी। समाज का क्या भय? क्या हृदय को डोरे से बाँधा जा सकता है? क्या सिंदूर से हृदय की माँगें भरी जा सकती हैं?"

ऊषा विनोद का मुख ताकने लगी। वह कहता गया—"तालाब में कमल झूमा करते हैं, पर जल की तरंगें उनके निचले मटमैले भाग को ही देख पाती हैं, ऊपर का खिला हुआ भाग तो आकाश ही देख पाता है। संसार का मटमैला पानी क्या जाने?

ऊषा को कुछ आस बँधी। वह मुस्किराई। विनोद फिर कहने लगा—"जिस ऊँचाई पर हम-तुम पहुँच चुके हैं, उसे कोई नहीं पा सकता। वहाँ से तुमको उतरना पड़ेगा, यदि संसार को समझना चाहो। अब संसार तुमको, तुम्हारी बातों को, तुम्हारे हृदय को नहीं जान सकता। अच्छा हो......" वह रुक गया।

ऊषा ने आगे कहने के लिये एक हुंकारी भरी—जैसे उसने विनोद का 'अच्छा हो,' न सुना हो। विनोद ने उतने में साहस बटोर लिया—"अच्छा हो, और मेरी इच्छा भी यही है कि तुम हँसो, तो एक के लिये। आँसू छलकें, तो एक के लिये। कर्ण सुनें, तो उसी एक की बात। मुख से उसी के बारे में शब्द निकलें। आँखें देखें तो एक ही को।" कुछ रुककर वह आगे कहने लगा—"पत्र लिखा जाय, वह तीन-चार लाइन से अधिक हो,

तो एक ही के लिये। स्मृति आए, तो एक ही की। ज़िंदगी हो, तो एक के लिये। अन्यथा··········"

ऊषा गद्गद हो गई। वह विनोद की वाणी में घुल-मिलकर मुस्किराती रही—मुस्किराहट रोके न रुकती थी। हर क्षण······।

पुष्पा किवाड़ों की आँड़ से रोती रही। हृदय रोके न रुकता था। आँसू बहते चले जा रहे थे—हर क्षण······।

ऊषा और विनोद जाने कहाँ खो गए। विनोद जगा।

"ऊषा······!"

"··········" वह अब तक खोई रही।

उसने पुनः पुकारा—"ऊषा।"

वह सहसा चौंक गई, मुस्किराई, और बोली—"जाने कहाँ खो गई थी?"

विनोद ने धीरे से कहा—"ज़रा जाकर देखो, वह कहाँ है? शायद रो रही होगी। बुला लाओ, उसकी बातें सुनी जायँ।"

ऊषा कुछ देर और विनोद की ओर देखती रही, बाद में उठी, और चल पड़ी।

पुष्पा सब कुछ आहट ले रही थी। वह दूसरे कमरे में जा छिपी। ऊषा उसको खोजती रही। पुष्पा उसी कमरे में जा छिपी थी, जिसमें ऊषा कभी बंद थी।

"ऊषा!" पुष्पा ने धीरे से कहा।

"·········" ऊषा ने सिर नीचा कर लिया।

पुष्पा—"ऊषा ! मृग-जल का पीछा करना छोड़ दो, वर्ना जिंदगी......।"

"पुष्पा ! जिंदगी ! ......मुझे जिंदगी का भय नहीं।"

"तुम मेरी मेहमान हो या मेरे घर की लुटेरी ? किसी का घर उजाड़ते तुम्हें झिझक नहीं होती ? किसी की दुनिया लूटते तुम्हें संकोच नहीं होता ? मेरे घर में ही आकर रहना, और मेरे ही घर में डाका डालना ! सीधी तरह चली जाओ, वर्ना ......।"

ऊषा के नेत्र क्रोध से लाल हो गए थे। ज्वाला भभक उठी—"वर्ना तुम मुझे फाँसी पर चढ़वा देती।" वह क्रोध में बकती चली गई, जाने क्या-क्या—"तुमने उन्हें अपना समझ लिया है—केवल अपना, इसलिये कि उन्होंने तुम्हारे बालों में लाल राखी छिड़क दी थी। तुमने उनको अपना गुलाम समझ लिया है, क्योंकि उनसे तुम्हारी शादी हो चुकी है—तुमने उन्हें खरीद लिया है न ? लेकिन याद रक्खो, हृदय की जीत के आगे तुम्हारे लाल-पीले धागे कुछ काम न करेंगे। जीत प्रेम की होगी, न कि सिंदूर की ?"

बात बढ़ती गई। पुष्पा आवेश में कांपने लगी। उसने ऊषा का गला पकड़ लिया। वह छुड़ाकर अलग खड़ी हो गई। बोली—"दूर हट, नीच ! तूने दो हृदयों को कुचलकर मसल डाला। पापिन ! विनोद को तूने मार डाला। पाखंडिनी ! पतिव्रता के आड़ में तू समाज की ओर से वकालत करने आई है ? तू समाज

लहरें दूर से शोर मचाती हुई आने लगीं, और वह अपने करों से उन्हें उछालती रही। उसके पग आगे बढ़े—एक... दो... तीन...! वह चलती गई। एकाएक पैर धरती से ऊपर उठ गया, और वह बह चली उस जल-धारा में!.........एकाएक एक चट्टान हाथ में आ गई, और वह थमकर खड़ी हो गई—पर दोनो तरफ़ थी अनंत जल-धारा। और, जीवन से तो वह निराश हो चुकी थी, और आई भी थी इसी के लिये। फिर इस चट्टान ने रोका क्यों? अभी विधाता का पेट नहीं भरा? चाँदनी ढल चुकी थी, भोर होने लगा। उस वीरान में लहरों के साथ मुरली की काँपती हुई ध्वनि थी। वह एकाएक फूट पड़ी—"क्या कहना चाहते हो तुम लोग? बोलो न!"

आँधी और प्रबल होती ही गई, हू-हू की आवाज़ अधिक तीव्र हो उठा। ऊपर से भोरकालीन पक्षियों का एक समूह चीख़ता हुआ निकल गया। अँधेरा साफ़ होने लगा, और ऊषा ने जल में पग रख दिया। वह लहँगा उठाकर किनारे तक चली आई।

आगे की ओर निकली हुई एक कगार की आड़ से बरतन-भाँड़े की छमछमाहट आने लगी। ऊषा के कर्ण सतर्क हो उठे, और वह आश्चर्य में पड़ गई—शायद ये लोग भी मेरी ही तरह दुनिया से ऊबे होंगे। वह उनके पास जाकर खड़ी हो गई।

तीन-चार महिलाएँ बरतन-भाँड़े माँजने में लीन थीं। किनारे-वाली का अंचल सामने की ओर गिर पड़ा, और उसे वह

सँभालकर कंधे पर रखने लगी। देखा, तो बगल में एक नया सलोना-सा, भोलाभाला मुख ; केशों की लटें मनचाही दिशा में झूम रही थीं। वह उत्सुकता में पूछ बैठी—"कौन हो बहन, बहुत थकी जान पड़ती हो।"

"और, तुम लोग कौन हो?......संसार से इतनी दूर।" ऊषा ने भी पूँछा।

बीच की युवती बोल उठी—"आप प्रातःकाल अभी आई होंगी? आपके साथ और कौन है? रात के सफ़र में तो बड़ा कष्ट होता है। ख़ैर, धर्म-पुण्य के काम में थोड़ा कष्ट बुरा नहीं होता।" बाक़ी स्त्रियाँ बरतन मलती रहीं।

ऊषा परेशान हो गई—धर्म-पुण्य का कार्य! कैसा धर्म? क्या यह कोई तीर्थ-स्थान है? जगह-जगह साधु लोगों ने घेरे डाल रक्खे हैं। कहीं छिपने की जगह ही नहीं। और, ये लोग करते क्या हैं? कुछ-न-कुछ शक्ति अवश्य होती होगी, तभी तो कोसों से लोगबाग़ दर्शन के लिये आते हैं।

अब तक सबके बरतन साफ़ हो चुके थे। सब महिलाएँ शिविर की ओर चलीं। साथ में ऊषा भी।

क़रीब पचास का मजमा होगा, जिसमें से आठ-दस संन्यासी थे, बाक़ी सब दार्शनिक, जो इधर-उधर दरी-ग़लीचे बिछाये बैठे थे। कुछ बैलगाड़ियाँ भी खड़ी थीं। अफ़सरों के घर की महिलाओं के लिये यही व्यवस्था थी। कार की पहुँच न थी।

एक तहसीलदार साहब भी आए थे, और उनके साथ में उनके

दो-चार सुशिक्षित मित्र भी, जिनमें से एक लेक्चरार और एक वकील साहब थे।

वकील साहब पतलून समेटकर बैठ गए। आगे ही बैठे—वकालत करने का अवसर कैसे छोड़ें? पीताम्बरदेवजी शांत भाव से बैठे थे।

वकील साहब पूछ बैठे—"निष्काम कर्म से क्या बोध होता है महाराज?"

मित्र लोग वकील साहब की ओर नजर फेंककर महात्माजी को देखने लगे।

स्वामीजी मुस्किराकर कहने लगे—"ठीक है! गीता में कहा है—

> कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन,
> मा कर्मफलं हेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्व कर्मणि
> योगस्थ: कुरु कर्माणि संगत्वा कुरु धनंजय
> सिद्धियासिद्धयो: समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते

लेकिन वकील साहब कब माननेवाले थे। इसके पहले कि स्वामीजी अर्थ बतलावें, वह पूछ बैठे—"महाराज...संसार के कार्य करना न करना बराबर ही है, तो मेरी वकालत और आपका संन्यास भी बेकार है।"

स्वामीजी ने मुस्किराते हुए कहा—"अकर्मण्य होना ही हो, तो जीवन का उपयोग ही क्या? वत्से! तुम्हारा क्या नाम है?"

बात काटकर हेमंतगिरि ने बतलाया—"महाराज, आज प्रातः-

काल जब मैं नहाकर अपने शिविर में आ रहा था, तो रास्ते में एक युवती तीन-चार महिलाओं के साथ आ रही थी। मैंने उन लोगों की बातें सुनी थीं। वह युवती आपको देखने के लिये बहुत उत्सुक है।"

स्वामीजी थोड़ा रुककर लापरवाही से बोल उठे—"यहीं बुलवा लो।"

एक लड़का महिला-शिविर में बुलाने चला गया, और ऊषा के साथ में कुछ महिलाएँ स्वामीजी के एक ओर बैठ गईं।

सरिता के किनारे पर भक्ति झूम-झूमकर नाच रही थी, उसको उन्माद सा छा गया था। एक पागलपन-सा, एक बेहोशी-सी। वह संसार को भूल गई, साथ ही अपनी सारी व्यथा को। ऊषा ने देखा कि सब लोग गा रहे हैं, कोई किसी पर हँसता नहीं। उसकी भी बारी आई, और बिना किसी संकोच के वह आर्त स्वर में फूट पड़ी—"पग घूँघर बाँध मीरा नाची रे!"

वाणी में जादू था, गले में लोच थी, और भक्ति की थी मिठास। भजन की कड़ियों में वह पूरिया धनाश्री के वियोग-भरे तान सजा देती थी—स्वामीजी ऊँघने लगे, सब लोग मस्त होकर झूमने लगे। पलकों पर जैसे मन-भर बोझ रख दिया हो, खुलना ही न जानती थीं। साथ में बैठे हुए अन्य महात्मा भी हर्ष से गद्गद हो झूमने लगे। स्वामी श्वेतवसनपुरी, कलानन्द, परशुराम पुंडरीक तथा स्वामी सत्यदेव आदि सब-के-

सब हर्ष और उल्लास से गद्गद हो गये थे। मानो साक्षात् मीरा नाच रही हो।

युवती के नेत्रों में भक्ति से आँसू आ गये। कृष्ण गोपाल के प्रेम में वह पागल-सी हो रही थी। हृदय की प्रेम-धारा संसार से हटकर कृष्ण की मधुर चितवन में समा गई थी। सिकता-शय्या पर रात्रि कटी जा रही थी, ऊपर तारे जगमगा रहे थे। चाँदनी रात्रि थी। कौमुदी बालू के कणों से खेल रही थी। बालू-कण चमचमा रहे थे। महिलाएँ एक ओर लेटी थीं, जोगन थी उनके पास!

रात बीत गई। भोर होने लगा। साधु-संन्यासी नित्यकर्म करने चले गए। प्रातःकाल आठ बजे से पुनः ज्ञान-चर्चा शुरू हुई, ऊषा भी बैठी हुई थी। सब ऊषा के मुख से कोई प्रश्न सुनने की इच्छा प्रकट कर रहे थे। बहुत देर तक मौन वातावरण छाया रहा, फिर एकआध लोग बोले, बाद में ऊषा ने भी प्रश्न किया—"स्वामीजी! भगवान् के दर्शन कैसे हो सकते हैं?"

स्वामीजी मुस्कराकर इधर-उधर देखने लगे। सबकी उत्सुक आँखें कभी स्वामीजी, कभी नवागंतुक संन्यासिनी पर पड़ने लगीं। वह ध्यान-मग्न हो गए। निस्तब्धता छा गई। कुछ देर बाद—"कौन हो तुम? वत्से!" स्वामीजी गंभीर हो गए।

"पहले समाज और भाग्य के हाथों ठुकराई हुई एक कंकड़ी......अब संसार से दूर, आपके सामने।"

"नाम ?"

"ऊषा !"

"तुम्हारी अवस्था तो अभी बहुत कम है, अभी तो तुम अठारह से अधिक नहीं होगी ?"

"१६३२ के माघ में मेरा जन्म हुआ, अब १६ वर्ष की हो चुकी हूँ।"

"बेटी ! तुम्हारे जीवन में बहुत उथल-पुथल हुआ जान पड़ता है। तुम्हारी कहानी बहुत करुण और शोकप्रद जान पड़ती है।"

संन्यासिनी की आँखों में आँसू छलक आए। वह चुपचाप उठ गई, और महिलाश्रम की ओर चल पड़ी। सब लोग उसकी ओर देखने लगे।

स्वामी हेमंतगिरिजी भला कब माननेवाले थे। प्रश्न कर उठे—"महाराज ! यह संन्यासिनी कैसी है ? अभी तो यह एक-दम स्त्री है ?" सब लोग हँस पड़े। बात भी वैसी ही थी—'एक-दम स्त्री !'

स्वामीजी भी पूछ बैठे—"तुम्हारा अभिप्राय ? हेमंत !" स्वामीजी मुस्किरा पड़े।

लोग हँसते गए, हेमंतजी कहते गए—"महाराज ! अभी इसका अवस्था नहीं हुआ, अभी तो यह कुँआरी लड़की सा लगता है। योग-तप हमारे-जैसे ब्रह्मचारियों के लिये बना है।"

सीना फुलाकर, बाँहों को तानकर—"हमारे-जैसे लोग भी प्राणायाम करते-करते मर जाते हैं, पर कुंडलिनी जगती ही नहीं। वह क्या करेगा? अभी तो एकदम छोटा है।"

"हेमंत!" स्वामीजी गंभीर हो गये।

"......जी......महाराज!"

"अहंकार छोड़ दो। जानते हो, जो कार्य तुम लाख जन्म न कर सके, वह कार्य यह कर चुकी है।" हेमंत का मुँह बिगड़ गया, आँखें निकल आईं, लोग हँस पड़े। स्वामीजी गंभीरता-पूर्वक कहते गए—"भगवत्प्राप्ति के लिये कसरत और पहलवानी काम नहीं करती। भगवान् सच्चिदानंद सच्चिदानंद से ही मिलते हैं। वह चाहते हैं शुद्ध हृदय का समर्पण, वह चाहते हैं सत्य। उन्हीं के बनाये हुये तुम, उन्हीं की बनाई हुई चीजें, फिर छिपाते क्यों हो? छल-कपट क्यों करते हो? सत्य का दीपक हृदय में जलाकर अपने को ज्योतिर्मय कर दो, प्रकाशमय कर दो। प्रकाश में हीरा चमकेगा। उठानेवाला स्वयं उठा लेगा।.........हेमंत! दुःखी मत हो, तू भी एक दिन चमक जायगा, परंतु भावुकों पर भगवान् की विशेष कृपा होती है। देखो, नेती-धोती करते-करते साल महीने हो गए, अभी तुम्हारी सुषुम्णा वैसी-की-वैसी ही पड़ी है। श्वेतबसनपुरी को आए आज एक मास भी नहीं हुआ, उनकी कुंडलिनी जाग्रत् हो गई।"

"और मेरी?......" लोग पुनः हँस पड़े।

"हेमंत ! तुम कसरत करते जाओ। विश्वास रक्खो, एक दिन गिरते-पड़ते रास्ते पर आ जाओगे।"

हेमंतगिरि ने निराश होकर लंबी-सी साँस खींची। उनका मुख देखकर स्वामीजी ने सांत्वना के कुछ टूटे-फूटे शब्द कह डाले—"निराश मत हो, लगन सच्ची होगी, तो वह अवश्य मिलेंगे। लोगों की तो लगन भी नहीं होती। पूर्व जन्म के संस्कारोदय से लगन हो पाती है……।" हेमंतगिरि के अधरों पर मुस्कान खिंची। स्वामीजी कहते गये—"संयम-नियम से काम लो, ब्रह्मचर्य का पालन करो, अभ्यास करते जाओ, घबराने से काम नहीं होता। जब तुम्हारी आत्मा उस ऊँचाई पर पहुँच जायगी, तो तुम्हें भटकना न पड़ेगा। भगवान् स्वयं तुम्हें खोजते हुए आ जायँगे। ब्रह्मचर्य-पालन और संयम-नियम कोई खेल नहीं है। युवावस्था में गृह त्यागकर यहाँ तक आ जाना कठिन है। यह सब भगवत्कृपा है, अन्यथा……।"

"अन्यथा क्या ? महाराज……!"

"तुम भी किसी शहर में हैट-कोट पहनकर घूमते, लड़कियों की ओर कुदृष्टि से देखते !"

"राम-राम ! हरे राम !"

कइयों ने नाक-भौं सिकोड़े।

"दिन-रात शृंगार-प्रिय बातों में डूबे रहते, आठो प्रहर नाच-गान, और……।"

"सच है महाराज!" स्वामी कलानंद ने आगे कहलवाने के लिये प्रोत्साहन दिया।

"बिलकुल सच है!"

वह फिर कहने लगे—"आजकल के नवयुवक न देशभक्त बन सकते हैं, न ईश्वरोपासक! उनकी दशा देखकर आँखों से आँसू छलक पड़ते हैं। मदिरा-पान, वेश्यागमन और नाना प्रकार के नवीन आविष्कृत कुकर्मों में वह मधु-मक्खी की तरह चिपटे रहते हैं। विषयांध होते हैं। ईश्वर को तो एकदम जानते ही नहीं। जाने उनके माता-पिता कैसा संस्कार डाल रहे हैं।..."

स्वामीजी की आँखें तेज से चमकने लगीं। आवेश में वह सिहर-से गए। स्वामी नीलगिरि ने आग में पानी झोंका—"महाराज! हृदय का किससे संबंध होता है? आत्मा या शरीर से? यदि आत्मा से, तो शराब पीना और रंडीबाजी करने में क्या हर्ज है? उसका हृदय से संबंध तो होता नहीं......।"

इतना कहकर शांत हो गए नीलगिरि। सब लोग उनकी ओर देखने लगे। विचित्र आदमी थे। साधु की ऐसी उलटी-सीधी बातें! बहुतों की उत्सुकता जगी। सब इस बर्फ-सी सफेद दाढ़ी-वाले साधु को देखने लगे। कुछ लोग हँस पड़े। पर स्वामीजी वैसे ही शांत थे।

"नीलगिरि!......" स्वामीजी मुस्किरा पड़े—"जिस चोटी पर तुम पहुँच चुके हो, उसकी पहुँच की तुम सबसे आशा न करो। एक अवस्था होती है, जब कि शरीर का आत्मा से संबंध बड़ा

गहरा होता है। मन और हृदय में बड़ी दोस्ती रहती है, ज्ञान बेचारा खड़ा होकर अकेले दूर से देखता रहता है। इंद्रियों ने स्पर्श किया, अच्छा लगा। मन का ऑर्डर हुआ, और हाथ-पैर सब सिपाही कार्य के लिये दौड़े गये। ज्ञान का थोड़ा उपयोग करने के लिये साधना करनी पड़ती है—निश्चल साधना। यह पीरियड बहुत दिन तक रहता है, और कोई निश्चय रूप से नहीं कह सकता कि उसने मन को जीत लेने की सनद पा ली है।"

एकाएक सबकी नजर पीछे की ओर हो गई। श्वेतवसनपुरी मंद चाल से चले आ रहे थे। सब लोग आदर में थोड़ा खिसक-कर बैठ गए। स्वामीजी ने स्वागत किया—"आइए पुरीजी!"

श्वेतवसनपुरीजी गंभीरता-पूर्वक कहने लगे—"कुछ ध्यान ही न रहा, एकदम खो गया था।" मुस्कराकर—"देखिए, गुरु-चरणों की कृपा कब सफल होती है? कभी-न-कभी तो मोर-मुकुट, कुंडल-छविवाला मिलेगा ही।" सब लोग हर्ष से गद्‌गद हो गए। पुरीजी पुनः कहने लगे—"स्वामीजी कब मिलेंगे वह? भटकते-भटकते कितना जीवन बीत गया, पर न मिला नंद का दुलारा।" उनकी आँखों में आँसू छलक आए। आवेश में वह डूब गए, प्रेम में खो गए। आसपास की वस्तुओं को भूलकर वह ध्यान-मग्न हो कहने लगे—"गोपाल! तुम्हारी छवि भुलाई नहीं जाती। तुम मिल भी नहीं पाते।"

शून्य में हाथ लपकाकर—"यह देखो तुम्हारा कुंडल झूल रहा है, तुम्हारा मोर-पंख वायु में लहरा रहा है। वह देखो !.........

"......वह देखो तुम्हारा वैजयंतीमाला। कितने सुंदर हो मनमोहन ! चुप क्यों हो ? बोलते क्यों नहीं ? क्या मुझसे रूठ गये हो ? ..... नहीं !......फिर बोलते क्यों नहीं ?" स्वामीजी अपने शिष्य की हालत देखकर आनंदविभोर हो गए। हर्ष से रोम-रोम गद्‌गद् हो गया। पुरीजी के आँसू छलकते चले जा रहे थे।.............

सब दर्शक अचंभे में डूब गए। संन्यासी भक्ति में......

"पुरीजी ! ......" स्वामीजी ने हाथों को ऊपर उठाकर इशारा किया।

सब लोग चुप हो गए। निस्तब्धता छा गई।

"पुरीजी !........."

"..........।" कोई उत्तर न मिला।

"श्वेतवसनपुरीजी .....!" महिलाएं दूर से पुकार पड़ीं। एकाएक पुरीजी का ध्यान टूटा। वह चौंककर इधर-उधर देखने लगे। सब लोग अचंभे में पड़ गए।

"कहाँ गए वह ?" वह निराश होकर फूट पड़े।

"कौन ? .... कृष्ण भगवान ? ......" स्वामीजी ने प्रश्न किया।

"नहीं ! वह लड़का ..... वह लड़का, जो अभी आया था। हाथों में मुरली, कान में .....

"तुम्हारे पास ही हैं। खेलते-खेलते थक गए, इसलिये जरा दूध-माखन खाने चले गए हैं।"

"अकेले-अकेले चले गए? खूब! जैसे मुझे दूध-माखन हजम ही न होता?"

"वत्से! तुम्हारी भक्ति संसार को उबार लेगी। तुम-जैसे श्वेत-वसन यदि संसार में दो-एक और हो जाते, तो कलि का नाम मिट जाता। फिर वही सतयुग आ जाता!"

"नहीं महाराज! ऐसा न कहिए। अपने लोगों को कलियुग में ही आराम है।"

"क्यों?"

"आप ही ने तो कहा था कि कलियुग में केवल नाम-संकीर्तन से ही साक्षात्कार हो जाता है। सतयुग में जो जन्म-जन्मांतर से तपस्या द्वारा नहीं हो पाता, कलियुग में वही नाम लेते चुटकियों में होता है। फिर कलियुग में जब तक कार्य न करे, केवल सोचा करे, पाप नहीं होता, पर और सभी युगों में कुकर्म का ध्यान करते ही पाप लग जाता है।"

"......" सब लोग चुप रहे।

थोड़ा रुककर श्वेतवसनपुरीजी ने इधर-उधर देखा, फिर बोले—"आज वह संन्यासिनी नहीं हैं? कहीं चली गई क्या?"

"कौन? नीलिमापुरी?"

"अरे नहीं,..... जो उस दिन संध्या को आई थी—जोगिया-

वस्त्र, खुली हुई लटें, छितराए हुए बाल !''''''जिसने गाना गाया था—'पग घूँघर बाँध''''''''

"अच्छा।" थोड़ा मुस्किराते हुए—"पुरीजी ! उन्हीं का नाम है नीलिमापुरी।"

"सत्संग से वह विमुख क्यों ? बुलवाइए उनको भी।"

स्वामीजी ने एक लड़के को संकेत किया, वह बुलाने चला गया। श्वेतवसनपुरीजी की अनन्य भक्ति की चर्चा चारों ओर फैल गई। पीछे बैठे कुछ वृद्ध-संन्यासी आपस में बातें किए जा रहे थे। सार्वजनिक रूप से कोई बात नहीं हो रही थी।

एक वृद्ध संन्यासी ने यही विषय उठाया कि जो कुछ ज्ञान है, वह गाँजा-भंग में है। संसार में मनुष्य को सब चिंताएँ त्याग भूला रहना चाहिए—मस्त रहना चाहिए, और इसकी दवा है भंग-गाँजा। बहुत से आस-पासवाले इनकी बातें सुनकर हँसने लगे। ये लोग सदा ऐसी ही ऊटपटाँग बातें किया करते थे। श्वेतवसनपुरी को तो यह लोग समझ ही न पाते थे, समझते थे कोई सनकी। बाहर किसी के पूछने पर वे ऐसा न कहते थे, वहाँ तो वे पुरीजी की भक्ति-विह्वलता में चार-छ लाइनें और जोड़कर वर्णन करते थे। यही इन लोगों का जीवन था।

कुछ देर बातें होती रहीं, तत्पश्चात् नीलिमापुरीजी आकर बैठ गईं। जिस ओर श्वेतवसनपुरीजी बैठे हुए थे, उसी के दूसरी ओर।

निस्तब्धता छाई रही।

इस बीच श्वेतवसनपुरीजी ने नीलिमा को कई बार देखा !...

खुली हुई लटें, बिखरे हुए केश, गौर रंग, तेजोमय मुख, बड़ी-बड़ी आँखें—ठंडी कमल-जैसी, और अवस्था लगभग अठारह या बीस।

एकाएक वह चौंक गए, जी धक् से हो गया। एकदम वैसी ही शकल-सूरत, आँखें और चेहरे का तेज। एकदम ऊषा-जैसी।

चार वर्ष पूर्व !

पुरीजी खो गए। अतीत नाच गया आँखों में।

जिस विभूति ने उन्हें अभी एकाएक चौंका दिया था, उस पर इन्हें कुछ भ्रम होने लगा।

कहाँ शहर की उड़ती हुई चिड़िया—लाल-पीली ! कहाँ विंध्याचल की पहाड़ियों में, मंदाकिनी के तट पर संन्यासिनी नीलिमा ! आकाश-पाताल का अंतर !

उत्सुकता प्रतिक्षण बढ़ती ही गई। कुछ देर बाद—"नीलिमा ! ....।"

"गुरु महाराज ! ....।"

श्वेतवसनपुरीजी ने आँखें मूँद लीं, कान भी मूँद लिए, एकदम वैसी ही आवाज़ थी। यह क्या हो गया ?

"देखो नीलिमाजी ! हमारे अनन्य भक्तों में से एक हैं श्वेतवसनजी, इनका नामांतक भी पुरी है। पूरा नाम श्वेतवसनपुरी।" कुछ मुस्किराकर—"तुम दोनों को भगवान् ने एक ही हाथ

से बनाया। तुम दोनो का जीवन भी अजीब है। आशा है, ईश्वर तुम्हारी लगन को बढ़ाये, और तुम्हें सुख-शांति मिले।"

उसी दिन भोजनोपरांत, दोपहर का समय।............

वट-वृक्ष से लगे हुए कुंजरायन की सघन छाया के नीचे वे तीन बैठे थे—नीलिमा, श्वेतवसन और स्वामी पीताम्बर-देवजी।

पुलकित नेत्रों से स्वामीजी अपने दोनो शिष्यों को देख रहे थे। तत्पश्चात् बैठे-ही-बैठे ध्यान-निद्रा में डूब गए।

दोनो पुरियों ने एक दूसरे को देखा। शांति थी, एकांत था। इस निस्तब्धता ने दोनो में संकोच, लज्जा और झिझक पैदा कर दी। उधर उत्सुकता बढ़ती जा रही थी—बढ़ती ही गई, और सकुच का बाँध टूट गया। उस पार जाते ही दोनो के नयनों ने एक दूसरे को पहचान लिया।

दीपक को रोमांच हो उठा। दूसरे ही क्षण उसकी आँखें डब-डबा आईं, जिनका ऊषा की आँखों से संयोग होते ही जल-सिंचन होने लगे। दोनो सिसक पड़े—सिसकते रहे।

[३३]

सड़क को चीरती हुई कार चली जा रही थी। रंजन था अगली सीट पर। संध्या और शशि पीछे······। आगे एक मोड़ आया, वहीं से एकदम ढलाव। ड्राइवर हैंड-ब्रेक थामे हुए था। कार चली जा रही थी। फिर ढलाव।······आगे एक चढ़ाव आया—एक मील लंबा चढ़ाव! ऊपर जाकर गाड़ी चौराहे से बाईं ओर मुड़ गई।······

·········चट्टानें, गुफाएँ······चोटियाँ।······दूर पर एक निर्भर पत्थरों पर से उछलता हुआ चला जा रहा था···कितना कर्ण-प्रिय गान। अहा! कितना मधुर कलकल। कार आगे जाकर रुक गई।

सबने उतरकर अपने हाथ-पैर धोए, सफ़र की थकान दूर हुई। पानी की बोतल पुनः भरकर लोग कार में लौट आए। ड्राइवर ने स्विच दबाया।······

कलकल करता हुआ झरना पीछे छूट गया। यात्री-शिविर तीन मील और था। गाड़ी आगे जाकर धीमी चाल से चलने लगी। यात्रियों की भीड़ थी। सड़क के दोनों तरफ़ ऊँचे-ऊँचे मंदिर···

लहरें दूर से शोर मचाती हुई आने लगीं, और वह अपने करों से उन्हें उछालती रही। उसके पग आगे बढ़े—एक···दो···तीन···! वह चलती गई। एकाएक पैर धरती से ऊपर उठ गया, और वह बह चली उस जल-धारा में !·········एकाएक एक चट्टान हाथ में आ गई, और वह थमकर खड़ी हो गई—पर दोनो तरफ थी अनंत जल-धारा। और, जीवन से तो वह निराश हो चुकी थी, और आई भी थी इसी के लिये। फिर इस चट्टान ने रोका क्यों? अभी विधाता का पेट नहीं भरा। चाँदनी ढल चुकी थी, भोर होने लगा। उस बीरान में लहरों के साथ मुरली की काँपती हुई ध्वनि थी। वह एकाएक फूट पड़ी—"क्या कहना चाहता हो तुम लोग? बोलो न!"

आँधी और प्रबल होती ही गई, हू-हू की आवाज़ अधिक तीव्र हो उठी। ऊपर से भोरकालीन पक्षियों का एक समूह चीखता हुआ निकल गया। अँधेरा साफ़ होने लगा, और ऊषा ने जल में पग रख दिया। वह लहँगा उठाकर किनारे तक चली आई।

आगे की ओर निकली हुई एक कगार की आड़ से बरतन-भाँड़े की छमछमाहट आने लगी। ऊषा के कर्ण सतर्क हो उठे, और वह आश्चर्य में पड़ गई—शायद ये लोग भी मेरी ही तरह दुनिया से ऊबे होंगे। वह उनके पास जाकर खड़ी हो गई।

तीन-चार महिलाएँ बरतन-भाँड़े माँजने में लीन थीं। किनारे-वाली का अंचल सामने की ओर गिर पड़ा, और उसे वह

सँभालकर कंधे पर रखने लगी। देखा, तो बग़ल में एक नया सलोना-सा, भोलाभाला मुख ; केशों की लटें मनचाही दिशा में झूम रही थीं। वह उत्सुकता में पूछ बैठी—"कौन हो बहन, बहुत थकी जान पड़ती हो।"

"और, तुम लोग कौन हो?......संसार से इतनी दूर।" ऊषा ने भी पूँछा।

बीच की युवती बोल उठी—"आप प्रातःकाल अभी आई होंगी? आपके साथ और कौन है? रात के सफ़र में तो बड़ा कष्ट होता है। ख़ैर, धर्म-पुण्य के काम में थोड़ा कष्ट बुरा नहीं होता।" बाक़ी स्त्रियाँ बरतन मलती रहीं।

ऊषा परेशान हो गई—धर्म-पुण्य का कार्य! कैसा धर्म? क्या यह कोई तीर्थ-स्थान है? जगह-जगह साधु लोगों ने घेरे डाल रक्खे हैं। कहीं छिपने की जगह ही नहीं। और, ये लोग करते क्या हैं? कुछ-न-कुछ शक्ति अवश्य होती होगी, तभी तो कोसों से लोगबाग़ दर्शन के लिये आते हैं।

अब तक सबके बरतन साफ़ हो चुके थे। सब महिलाएँ शिविर की ओर चलीं। साथ में ऊषा भी।

क़रीब पचास का मजमा होगा, जिसमें से आठ-दस संन्यासी थे, बाक़ी सब दार्शनिक, जो इधर-उधर दरी-ग़लीचे बिछाये बैठे थे। कुछ बैलगाड़ियाँ भी खड़ी थीं। अफ़सरों के घर की महिलाओं के लिये यही व्यवस्था थी। कार की पहुँच न थी।

एक तहसीलदार साहब भी आए थे, और उनके साथ में उनके

दो-चार सुशिक्षित मित्र भी, जिनमें से एक लेक्चरार और एक वकील साहब थे।

वकील साहब पतलून समेटकर बैठ गए। आगे ही बैठे—वकालत करने का अवसर कैसे छोड़ें? पीताम्बरदेवजी शांत भाव से बैठे थे।

वकील साहब पूछ बैठे—"निष्काम कर्म से क्या बोध होता है महाराज?"

मित्र लोग वकील साहब की ओर नजर फेंककर महात्माजी को देखने लगे।

स्वामीजी मुस्किराकर कहने लगे—"ठीक है! गीता में कहा है—

> कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन,
> मा कर्मफलं हेतुर्भूर्माते सङ्गोऽस्त्व कर्मणि
> योगस्थ: कुरु कर्माणि संगत्वा कुरु धनंजय
> सिद्धियासिद्धयो: समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते

लेकिन वकील साहब कब माननेवाले थे। इसके पहले कि स्वामीजी अर्थ बतलावें, वह पूछ बैठे—"महाराज... संसार के कार्य करना न करना बराबर ही है, तो मेरी वकालत और आपका संन्यास भी बेकार है।"

स्वामीजी ने मुस्किराते हुए कहा—"अकर्मण्य होना ही हो, तो जीवन का उपयोग ही क्या? वत्से! तुम्हारा क्या नाम है?"

बात काटकर हेमंतगिरि ने बतलाया—"महाराज, आज प्रातः-

काल जब मैं नहाकर अपने शिविर में आ रहा था, तो रास्ते में एक युवती तीन-चार महिलाओं के साथ आ रही थी। मैंने उन लोगों की बातें सुनी थीं। वह युवती आपको देखने के लिये बहुत उत्सुक है।"

स्वामीजी थोड़ा रुककर लापरवाही से बोल उठे—"यहीं बुलवा लो।"

एक लड़का महिला-शिविर में बुलाने चला गया, और ऊषा के साथ में कुछ महिलाएँ स्वामीजी के एक ओर बैठ गईं।

सरिता के किनारे पर भक्ति झूम-झूमकर नाच रही थी, उसको उन्माद सा छा गया था। एक पागलपन-सा, एक बेहोशी-सी। वह संसार को भूल गई, साथ ही अपनी सारी व्यथा को। ऊषा ने देखा कि सब लोग गा रहे हैं, कोई किसी पर हँसता नहीं। उसकी भी बारी आई, और बिना किसी संकोच के वह आर्त स्वर में फूट पड़ी—"पग घूँघर बाँध मीरा नाची रे!"

वाणी में जादू था, गले में लोच थी, और भक्ति की थी मिठास। भजन की कड़ियों में वह पूरिया धनाश्री के वियोग-भरे तान सजा देती थी—स्वामीजी ऊँघने लगे, सब लोग मस्त होकर झूमने लगे। पलकों पर जैसे मन-भर बोझ रख दिया हो, खुलना ही न जानती थीं। साथ में बैठे हुए अन्य महात्मा भी हर्ष से गद्गद हो झूमने लगे। स्वामी श्वेतवसनपुरी, कलानन्द, परशुराम पुंडरीक तथा स्वामी सत्यदेव आदि सब-के-

सब हर्ष और उल्लास से गद्गद हो गये थे। मानो साक्षात् मीरा नाच रही हो।

युवती के नेत्रों में भक्ति से आँसू आ गये। कृष्ण गोपाल के प्रेम में वह पागल-सी हो रही थी। हृदय की प्रेम-धारा संसार से हटकर कृष्ण की मधुर चितवन में समा गई थी। सिकता-शय्या पर रात्रि कटी जा रही थी, ऊपर तारे जगमगा रहे थे। चाँदनी रात्रि थी। कौमुदी बालू के कणों से खेल रही थी। बालू-कण चमचमा रहे थे। महिलाएँ एक ओर लेटी थीं, जोगन थी उनके पास।

रात बीत गई। भोर होने लगा। साधु-संन्यासी नित्यकर्म करने चले गए। प्रातःकाल आठ बजे से पुनः ज्ञान-चर्चा शुरू हुई, ऊषा भी बैठी हुई थी। सब ऊषा के मुख से कोई प्रश्न सुनने की इच्छा प्रकट कर रहे थे। बहुत देर तक मौन वातावरण छाया रहा, फिर एकआध लोग बोले, बाद में ऊषा ने भी प्रश्न किया—"स्वामीजी! भगवान् के दर्शन कैसे हो सकते हैं?"

स्वामीजी मुस्किराकर इधर-उधर देखने लगे। सबकी उत्सुक आँखें कभी स्वामीजी, कभी नवागंतुक संन्यासिनी पर पड़ने लगीं। वह ध्यान-मग्न हो गए। निस्तब्धता छा गई। कुछ देर बाद—"कौन हो तुम? वत्से!" स्वामीजी गंभीर हो गए।

"पहले समाज और भाग्य के हाथों ठुकराई हुई एक कंकड़ी......अब संसार से दूर, आपके सामने।"

"नाम ?"

"ऊषा !"

"तुम्हारी अवस्था तो अभी बहुत कम है, अभी तो तुम अठारह से अधिक नहीं होगी ?"

"१९३२ के माघ में मेरा जन्म हुआ, अब १९ वर्ष की हो चुकी हूँ।"

"बेटी ! तुम्हारे जीवन में बहुत उथल-पुथल हुआ जान पड़ता है। तुम्हारी कहानी बहुत करुण और शोकप्रद जान पड़ती है।"

संन्यासिनी की आँखों में आँसू छलक आए। वह चुपचाप उठ गई, और महिलाश्रम की ओर चल पड़ी। सब लोग उसकी ओर देखने लगे।

स्वामी हेमंतगिरिजी भला कब माननेवाले थे। प्रश्न कर उठे—"महाराज ! यह संन्यासिनी कैसी है ? अभी तो यह एकदम स्त्री है ?" सब लोग हँस पड़े। बात भी वैसी ही थी—'एकदम स्त्री !'

स्वामीजी भी पूछ बैठे—"तुम्हारा अभिप्राय ? हेमंत !" स्वामीजी मुस्किरा पड़े।

लोग हँसते गए, हेमंतजी कहते गए—"महाराज ! अभी इसकी अवस्था नहीं हुआ, अभी तो यह कुँआरी लड़की-सा लगता है। योग-तप हमारे-जैसे ब्रह्मचारियों के लिये बना है।"

सीना फुलाकर, बाँहों को तानकर—"हमारे-जैसे लोग भी प्राणायाम करते-करते मर जाते हैं, पर कुंडलिनी जगती ही नहीं। वह क्या करेगा? अभी तो एकदम छोटा है।"

"हेमंत!" स्वामीजी गंभीर हो गये।

"......जी......महाराज!"

"अहंकार छोड़ दो। जानते हो, जो कार्य तुम लाख जन्म न कर सके, वह कार्य यह कर चुकी है।" हेमंत का मुँह बिगड़ गया, आँखें निकल आईं, लोग हँस पड़े। स्वामीजी गंभीरता-पूर्वक कहते गए—"भगवत्प्राप्ति के लिये कसरत और पहलवानी काम नहीं करती। भगवान् सच्चिदानंद सच्चिदानंद से ही मिलते हैं। वह चाहते हैं शुद्ध हृदय का समर्पण, वह चाहते हैं सत्य। उन्हीं के बनाये हुये तुम, उन्हीं की बनाई हुई चीजें, फिर छिपाते क्यों हो? छल-कपट क्यों करते हो? सत्य का दीपक हृदय में जलाकर अपने को ज्योतिर्मय कर दो, प्रकाशमय कर दो। प्रकाश में हीरा चमकेगा। उठानेवाला स्वयं उठा लेगा।.........हेमंत! दुःखी मत हो, तू भी एक दिन चमक जायगा, परंतु भावुकों पर भगवान् की विशेष कृपा होती है। देखो, नेती-धोती करते-करते सात महीने हो गए, अभी तुम्हारी सुषुम्णा वैसी-की-वैसी ही पड़ी है। श्वेतवसनपुरी को आए आज एक मास भी नहीं हुआ, उनकी कुंडलिनी जाग्रत् हो गई।"

"और मेरी?......" लोग पुनः हँस पड़े।

"हेमंत ! तुम कसरत करते जाओ। विश्वास रक्खो, एक दिन गिरते-पड़ते रास्ते पर आ जाओगे।"

हेमंतगिरि ने निराश होकर लंबी-सी साँस खींची। उनका मुख देखकर स्वामीजी ने सांत्वना के कुछ टूटे-फूटे शब्द कह डाले—"निराश मत हो, लगन सच्ची होगी, तो वह अवश्य मिलेंगे। लोगों की तो लगन भी नहीं होती। पूर्व जन्म के संस्कारोदय से लगन हो पाती है……।" हेमंतगिरि के अधरों पर मुस्कान खिंची। स्वामीजी कहते गये—"संयम-नियम से काम लो, ब्रह्मचर्य का पालन करो, अभ्यास करते जाओ, घबराने से काम नहीं होता। जब तुम्हारी आत्मा उस ऊँचाई पर पहुँच जायगी, तो तुम्हें भटकना न पड़ेगा। भगवान् स्वयं तुम्हें खोजते हुए आ जायँगे। ब्रह्मचर्य-पालन और संयम-नियम कोई खेल नहीं है। युवावस्था में गृह त्यागकर यहाँ तक आ जाना कठिन है। यह सब भगवत्कृपा है, अन्यथा……।"

"अन्यथा क्या ? महाराज……!"

"तुम भी किसी शहर में हैट-कोट पहनकर घूमते, लड़कियों की ओर कुदृष्टि से देखते !"

"राम-राम ! हरे राम !"

कइयों ने नाक-भौं सिकोड़े।

"दिन-रात श्रृंगार-प्रिय बातों में डूबे रहते, आठो प्रहर नाच-गान, और……।"

"सच है महाराज !" स्वामी कलानंद ने आगे कहलवाने के लिये प्रोत्साहन दिया।

"बिलकुल सच है !"

वह फिर कहने लगे—"आजकल के नवयुवक न देशभक्त बन सकते हैं, न ईश्वरोपासक ! उनकी दशा देखकर आँखों से आँसू छलक पड़ते हैं। मदिरा-पान, वेश्यागमन और नाना प्रकार के नवीन आविष्कृत कुकर्मों में वह मधु-मक्खी की तरह चिपटे रहते हैं। विषयांध होते हैं। ईश्वर को तो एकदम जानते ही नहीं। जाने उनके माता-पिता कैसा संस्कार डाल रहे हैं।…"

स्वामीजी की आँखें तेज से चमकने लगीं। आवेश में वह सिहर-से गए। स्वामी नीलगिरि ने आग में पानी झोंका—"महा-राज ! हृदय का किससे संबंध होता है ? आत्मा या शरीर से ? यदि आत्मा से, तो शराब पीना और रंडीबाजी करने में क्या हर्ज है ? उसका हृदय से संबंध तो होता नहीं……।"

इतना कहकर शांत हो गए नीलगिरि। सब लोग उनकी ओर देखने लगे। विचित्र आदमी थे। साधु को ऐसी उलटी-सीधी बातें ! बहुतों की उत्सुकता जगी। सब इस बर्फ-सी सफेद दाढ़ी-वाले साधु को देखने लगे। कुछ लोग हँस पड़े। पर स्वामीजी वैसे ही शांत थे।

"नीलगिरि !……" स्वामीजी मुस्किरा पड़े—"जिस चोटी पर तुम पहुँच चुके हो, उसकी पहुँच की तुम सबसे आशा न करो। एक अवस्था होती है, जब कि शरीर का आत्मा से संबंध बड़ा

गहरा होता है। मन और हृदय में बड़ी दोस्ती रहती है, ज्ञान बेचारा खड़ा होकर अकेले दूर से देखता रहता है। इंद्रियों ने स्पर्श किया, अच्छा लगा। मन का ऑर्डर हुआ, और हाथ-पैर सब सिपाही कार्य के लिये दौड़े गये। ज्ञान का थोड़ा उपयोग करने के लिये साधना करनी पड़ती है—निश्चल साधना। यह पीरियड बहुत दिन तक रहता है, और कोई निश्चय रूप से नहीं कह सकता कि उसने मन को जीत लेने की सनद पा ली है।"

एकाएक सबकी नजर पीछे की ओर हो गई। श्वेतवसनपुरी मंद चाल से चले आ रहे थे। सब लोग आदर में थोड़ा खिसक-कर बैठ गए। स्वामीजी ने स्वागत किया—"आइए पुरीजी!"

श्वेतवसनपुरीजी गंभीरता-पूर्वक कहने लगे—"कुछ ध्यान ही न रहा, एकदम खो गया था।" मुस्किराकर—"देखिए, गुरु-चरणों की कृपा कब सफल होती है? कभी-न-कभी तो मोर-मुकुट, कुंडल-छविवाला मिलेगा ही।" सब लोग हर्ष से गद्गद हो गए। पुरीजी पुनः कहने लगे—"स्वामीजी कब मिलेंगे वह? भटकते-भटकते कितना जीवन बीत गया, पर न मिला नंद का दुलारा।" उनकी आँखों में आँसू छलक आए। आवेश में वह डूब गए, प्रेम में खो गए। आसपास की वस्तुओं को भूलकर वह ध्यान-मग्न हो कहने लगे—"गोपाल! तुम्हारी छवि भुलाई नहीं जाती। तुम मिल भी नहीं पाते।"

शून्य में हाथ लपकाकर—"यह देखो तुम्हारा कुंडल झूल रहा है, तुम्हारा मोर-पंख वायु में लहरा रहा है। वह देखो !·········

"······वह देखो तुम्हारा वैजयंतीमाला। कितने सुंदर हो मनमोहन! चुप क्यों हो? बोलते क्यों नहीं? क्या मुझसे रूठ गये हो? ····· नहीं!·······फिर बोलते क्यों नहीं?" स्वामीजी अपने शिष्य की हालत देखकर आनंदविभोर हो गए। हर्ष से रोम-रोम गद्‌गद्‌ हो गया। पुरीजी के आँसू छलकते चले जा रहे थे।·············

सब दर्शक अचंभे में डूब गए। संन्यासी भक्ति में······

"पुरीजी! ······" स्वामीजी ने हाथों को ऊपर उठाकर इशारा किया।

सब लोग चुप हो गए। निस्तब्धता छा गई।

"पुरीजी!·········"

"·········।" कोई उत्तर न मिला।

"श्वेतवसनपुरीजी ····!" महिलाएं दूर से मुस्किरा पड़ीं। एकाएक पुरीजी का ध्यान टूटा। वह चौंककर इधर-उधर देखने लगे। सब लोग अचंभे में पड़ गए।

"कहाँ गए वह?" वह निराश होकर फूट पड़े।

"कौन? ···· कृष्ण भगवान? ·····" स्वामीजी ने प्रश्न किया।

"नहीं! वह लड़का ···· वह लड़का, जो अभी आया था। हाथों में मुरली, कान में ····

"तुम्हारे पास ही हैं। खेलते-खेलते थक गए, इसलिये जरा दूध-माखन खाने चले गए हैं।"

"अकेले-अकेले चले गए ? खूब ! जैसे मुझे दूध-माखन हजम ही न होता ?"

"वत्से ! तुम्हारी भक्ति संसार को उबार लेगी। तुम-जैसे श्वेत-वसन यदि संसार में दो-एक और हो जाते, तो कलि का नाम मिट जाता। फिर वही सतयुग आ जाता !"

"नहीं महाराज ! ऐसा न कहिए। अपने लोगों को कलियुग में ही आराम है।"

"क्यों ?"

"आप ही ने तो कहा था कि कलियुग में केवल नाम-संकीर्तन से ही साक्षात्कार हो जाता है। सतयुग में जो जन्म-जन्मांतर से तपस्या द्वारा नहीं हो पाता, कलियुग में वही नाम लेते चुटकियों में होता है। फिर कलियुग में जब तक कार्य न करे, केवल सोचा करे, पाप नहीं होता, पर और सभी युगों में कुकर्म का ध्यान करते ही पाप लग जाता है।"

"......" सब लोग चुप रहे।

थोड़ा रुककर श्वेतवसनपुरीजी ने इधर-उधर देखा, फिर बोले—"आज वह संन्यासिनी नहीं हैं ? कहीं चली गई क्या ?"

"कौन ? नीलिमापुरी ?"

"अरे नहीं,..... जो उस दिन संध्या को आई थी—जोगिया-

वस्त्र, खुली हुई लटें, छितराए हुए बाल !······जिसने गाना गाया था—'पग घूँघर बाँध······'"

"अच्छा।" थोड़ा मुस्किराते हुए—"पुरीजी ! उन्हीं का नाम है नीलिमापुरी।"

"सत्संग से वह विमुख क्यों ? बुलवाइए उनको भी।"

स्वामीजी ने एक लड़के को संकेत किया, वह बुलाने चला गया। श्वेतवसनपुरीजी की अनन्य भक्ति की चर्चा चारों ओर फैल गई। पीछे बैठे कुछ वृद्ध-संन्यासी आपस में बातें किए जा रहे थे। सार्वजनिक रूप से कोई बात नहीं हो रही थी।

एक वृद्ध संन्यासी ने यही विषय उठाया कि जो कुछ ज्ञान है, वह गाँजा-भंग में है। संसार में मनुष्य को सब चिंताएँ त्याग भूला रहना चाहिए—मस्त रहना चाहिए, और इसकी दवा है भंग-गाँजा। बहुत से आस-पासवाले इनकी बातें सुनकर हँसने लगे। ये लोग सदा ऐसी ही ऊटपटाँग बातें किया करते थे। श्वेतवसनपुरी को तो यह लोग समझ ही न पाते थे, समझते थे कोई सनकी। बाहर किसी के पूछने पर वे ऐसा न कहते थे, वहाँ तो वे पुरीजी की भक्ति-विह्वलता में चार-छ लाइनें और जोड़कर वर्णन करते थे। यही इन लोगों का जीवन था।

कुछ देर बातें होती रहीं, तत्पश्चात् नीलिमापुरीजी आकर बैठ गईं। जिस ओर श्वेतवसनपुरीजी बैठे हुए थे, उसी के दूसरी ओर।

निस्तब्धता छाई रही।

इस बीच श्वेतवसनपुरीजी ने नीलिमा को कई बार देखा !...

खुली हुई लटें, बिखरे हुए केश, गौर रंग, तेजोमय मुख, बड़ी-बड़ी आँखें—ठंडी कमल-जैसी, और अवस्था लगभग अठारह या बीस।

एकाएक वह चौंक गए, जी धक् से हो गया। एकदम वैसी ही शकल-सूरत, आँखें और चेहरे का तेज। एकदम ऊषा-जैसी।

चार वर्ष पूर्व !

पुरीजी खो गए। अतीत नाच गया आँखों में।

जिस विभूति ने उन्हें अभी एकाएक चौंका दिया था, उस पर इन्हें कुछ भ्रम होने लगा।

कहाँ शहर की उड़ती हुई चिड़िया—लाल-पीली ! कहाँ विंध्याचल की पहाड़ियों में, मंदाकिनी के तट पर संन्यासिनी नीलिमा ! आकाश-पाताल का अंतर !

उत्सुकता प्रतिक्षण बढ़ती ही गई। कुछ देर बाद—"नीलिमा ! ....।"

"गुरु महाराज ! ....।"

श्वेतवसनपुरीजी ने आँखें मूँद लीं, कान भी मूँद लिए, एकदम वैसी ही आवाज़ थी। यह क्या हो गया ?

"देखो नीलिमाजी ! हमारे अनन्य भक्तों में से एक हैं श्वेतवसनजी, इनका नामांतक भी पुरी है। पूरा नाम श्वेतवसनपुरी।" कुछ मुस्किराकर—"तुम दोनो को भगवान् ने एक ही हाथ

से बनाया। तुम दोनो का जीवन भी अजीब है। आशा है, ईश्वर तुम्हारी लगन को बढ़ाये, और तुम्हें सुख-शांति मिले।"

उसी दिन भोजनोपरांत, दोपहर का समय।............

वट-वृक्ष से लगे हुए कुंजरायन की सघन छाया के नीचे वे तीन बैठे थे—नीलिमा, श्वेतवसन और स्वामी पीताम्बर-देवजी।

पुलकित नेत्रों से स्वामीजी अपने दोनो शिष्यों को देख रहे थे। तत्पश्चात् बैठे-ही-बैठे ध्यान-निद्रा में डूब गए।

दोनो पुरियों ने एक दूसरे को देखा। शांति थी, एकांत था। इस निस्तब्धता ने दोनो में संकोच, लज्जा और झिझक पैदा कर दी। उधर उत्सुकता बढ़ती जा रही थी—बढ़ती ही गई, और सकुच का बाँध टूट गया। उस पार जाते ही दोनो के नयनों ने एक दूसरे को पहचान लिया।

दीपक को रोमांच हो उठा। दूसरे ही क्षण उसकी आँखें डब-डबा आईं, जिनका ऊषा की आँखों से संयोग होते ही जल-सिंचन होने लगे। दोनो सिसक पड़े—सिसकते रहे।

---

[३३]

सड़क को चीरती हुई कार चली जा रही थी। रंजन था अगली सीट पर। संध्या और शशि पीछे...... । आगे एक मोड़ आया, वहीं से एकदम ढलाव। ड्राइवर हैंड-ब्रेक थामे हुए था। कार चली जा रही थी। फिर ढलाव। ......आगे एक चढ़ाव आया—एक मील लंबा चढ़ाव! ऊपर जाकर गाड़ी चौराहे से बाईं ओर मुड़ गई।......

.........चट्टानें, गुफाएँ......चोटियाँ।......दूर पर एक निर्झर पत्थरों पर से उछलता हुआ चला जा रहा था...कितना कर्ण-प्रिय गान। अहा! कितना मधुर कलकल। कार आगे जाकर रुक गई।

सबने उतरकर अपने हाथ-पैर धोए, सफ़र की थकान दूर हुई। पानी की बोतल पुनः भरकर लोग कार में लौट आए। ड्राइवर ने स्विच दबाया।......

कलकल करता हुआ झरना पीछे छूट गया। यात्री-शिविर तीन मील और था। गाड़ी आगे जाकर धीमी चाल से चलने लगी। यात्रियों की भीड़ थी। सड़क के दोनों तरफ़ ऊँचे-ऊँचे मंदिर...

अट्टालिकाएँ ''''''। तिलक त्रिपुंडधारी पंडे और बाबा लोग इधर-उधर टहल रहे थे। कार का हॉर्न सुन यात्री रास्ता छोड़ किनारे हो जाते थे। आगे थोड़ा एकांत देखकर कार रुक गई।

"ड्राइवर!"

"हुज़ूर, मैं अभी पता लगाकर आता हूँ ''। दिन काफी निकल चुका है, तब तक आप लोग नाश्ता कर लीजिए।"

"और तुम?"

"मैं अभी आ जाऊँगा, फिर''''''।" ड्राइवर चला गया।

विंध्याचल की कंकरीली पहाड़ियाँ।'''''' चट्टानें!''''''गुफाएँ! ''''''और आसमान से टकराती हुई चोटियाँ! काली-काली भयंकर चोटियाँ! नीचे थी'''शांत जल-धारा''''''गंगा की तरंग—उन्मादिनी! वेगवती! पर थोड़ी दूर पर,''''''सामने का पहाड़ी के किनारे-किनारे जल भँवरों में उछल-उछलकर दूर तक चला जाता था। संध्या देखती चली जा रही थी''''''नयनों से आँसू बहते चले जा रहे थे—काश वह भी''''''।

"वहाँ क्या कर रही हो, भाभी?''''''" शशि ने बुलाया।

"''''''''''" वह खोई रही।

"''''''भाभी!" उसने अबकी बार आवाज़ खींचकर बुलाया।

एकाएक वह चौंक गई। मुड़कर देखने लगी। शशि बुला रही थी, वह पास जाकर खड़ी हो गई। कार के फाटक पर कुहनी रक्खे शशि संध्या से बातें करने लगी।

शशि ने एकाएक पूछा—"क्यों भाभी! एक बात बताओगी?"

"……पूछो।" उसने धीरे से कहा।

"यदि कोई लड़का किसी लड़की को प्यार…(I mean, 'Love') करे, तो उस लड़की को कैसे पता चले ?"

"शशि ! इस विषय में लड़कियाँ अधिक जानकार होती हैं, और फिर तुम्हारी-जैसी पढ़ी-लिखी, कॉलेज-गर्ल !"

"तुम क्या पढ़ी-लिखी नहीं हो ? तुम भी तो वही सब हो, जो मैं हूँ। एक ही क्लास-फेलो हम रह चुके हैं—काश ! मुझे मालूम होता कि तुम्हीं मेरी……"

"………" संध्या बगल झाँकती हुई मुस्किरा पड़ी।

"………" तुमने मेरे सवाल का जवाब नहीं दिया।"

"Your question is so abrupt" वह मुस्किराती रही।

"Why ?……all right. But to-day you will have to answer otherwise.……"

"Love is superhuman, शशि ! तुमने शेक्सपियर की परिभाषाएँ तो सुनी ही होंगी।" भला, वह तुमसे कब छूटनेवाले हैं। जानती ही होगी।"

"मैं तो सब कुछ जानती हूँ, परन्तु आज तुम्हारे मुख से सुनना चाहती हूँ। देखना चाहती हूँ कि मेरी क्लास-फेलो दुल्हन बनने के बाद बदल तो नहीं गई।"

"शशि !………तुम और मैं क्या, संसार बदल गया है। तुम भी और मैं भी बदल गई हूँ।"

"बदलने दो दुनिया को, तुम मेरी बात का जवाब दो।"

"अच्छा, तो सुनो Psychology यह बताती है कि वह तुमसे नफ़रत करता है। लड़के (love) के मामले में आगे बढ़े रहते हैं। भला, वे लड़कियों को ठुकराएँ! और फिर तुम-जैसी…।"

वह मुस्किरा पड़ी, शशि के ऊपर अच्छा तीर था, वह भी लजा गई, संध्या ने पुनः प्रारंभ किया—"लड़कियों से लड़के seldom ही indifferent होते हैं। या तो लड़कियों में कोई खराबी हो, या लड़का बहुत ऊँचाई पर हो। पहली बात तुम्हारे केस में नहीं है, दूसरी बात बिलकुल सत्य है। लड़का तुमको Positively चाहता नहीं है, और……।"

"Psychology तुम्हारी बड़ी अच्छी है।"

"ठीक बताया है न?" वह मुस्किरा पड़ी।

शशि लजा गई। कुछ क्षण बाद—"प्रेम की बुनियाद कैसे पड़ती है?"

"और बहुत तरीक़े हैं। कल जाओ पायनियर में, नेशनल हेराल्ड में जाकर एडवरटाइज करवा दो, Wanted a handsome youth for affair-de-coer……काम हो जायगा।"

"तुम तो मजाक़ करती हो भाभी!" वह मुस्किराकर कहने लगी—"मेरा खयाल है, प्रेम अपने आप हो जाता है।"

"तो उसमें आपने नई बात कौन-सी कह दी। यह तो हजार बार फ़िल्मों और पुस्तकों में कहा जा चुका है।"

"फिर तुम्हीं कोई नई बात कहो।"

"नई बात क्या? प्यार अनमोल है शशि! अनमोल है। बिकता नहीं। इसकी बुनियाद चाहे जैसे पड़े, सोने-चाँदी या वासना से……।"

"वासना से!……" शशि घबरा गई, पर यह घबराहट बनावटी थी।

"वासना को तुम क्या समझती हो? कोई खेल है? हर प्रेम के पौधे में वासना का जल छिपा होता है, चाहे वह जड़ में ही क्यों न हो। पौधे को सींचने के लिये जल चाहिए, जल! तालाब का ठंडा पानी नहीं, बल्कि वासना की एक उमंग। उसी उमंग पर सारा महल तैयार हो जाता है, बाद में नींव का पता भी नहीं चलता।" शशि के हृदय-अंतस्तल में गुदगुदी-सी मच रही थी, पर बाह्य आकृति पर वह बनावटी गंभीरता यथाशक्ति खींचे जा रही थी। संध्या कह रही थी—'वासना से ही संसार की उत्पत्ति है। उसको त्याग मानव जा कहाँ सकता है?"

"फिर प्यार क्या है?"

"प्यार!……" वह मुस्किरा पड़ी—"वासना का कला-पूर्ण अभिनय! आहों और सिसकियों से साजकर वासना का प्रदर्शन! यही प्यार है।"

"लेकिन मैंने तो सुना है कि प्रेम अपने आप हो जाता है। उसमें आत्माओं से संबंध रहता है। प्रेम करने के बाद मनुष्य पागल हो जाता है, और अपनी प्रिया में लीन हो जाता है।"

"सुना तो तुमने बहुत कुछ होगा, you can't avoid. आज-कल का वातावरण ही वैसा है। परंतु स्वयं का तुम्हारा अनुभव क्या है ?"

"..........भाभी !" वह मुस्किरा पड़ी—"यह मत पूछो।"

"बताओ, प्रेम करनेवाले छिपाते नहीं।" उसने बनावटी गंभीरता खींची।

"............" शशि विचारों में डूबकर एकाएक उदास हो गई।

कुछ देर रुककर संध्या ने पुनः पूछा—"बताओ शशि!......"

"..........." वह खोई रही।

"शशि !.........." संध्या ने उसकी गर्दन हिलाई-डुलाई।

"हाँ !" वह मुस्किराकर चौंक गई। अनजान आँखों से इधर-उधर देखने लगी।

"मैं कहाँ हूँ, भाभी !"

संध्या ने प्रश्न किया—"न बताना हो, रहने दो।"

"बताऊँगी भाभी! बताऊँगी।" उसकी आँखें डबडबा आईं—"सब कुछ बताऊँगी।"

"............" संध्या मौन होकर सुनने लगी।

"एक दिन मैं नीले सलवार में युनिवर्सिटी गई। Dr. Sinha का पीरियड था......।"

एकाएक संध्या चौंक गई, साथ में शशि भी। ड्राइवर आ

रहा था। विचार-धारा टूटी। वार्ता खत्म हुई, और दोनों कार में जाकर बैठ गईं।

एकाएक कार चल पड़ी, और पास के यात्री-शिविर के सामने रुक गई।

एक त्रिपुंड-तिलकधारी पंडे ने उठकर स्वागत किया, और एक कमरा तथा उसकी चाभी आदि देकर वह अपने आसन पर बैठ गया। दोपहर को पंडे ने भोजन परसवाया, और वह पास में बैठकर बातें करने लगा। ड्राइवर हुँकारी भरता रहा।"

"यहाँ पर तो विदेश से, जाने कहाँ-कहाँ से लोग आते हैं, और हमारे यहाँ ठहरते हैं। हमारे यहाँ केवल राजा-महाराजा ठहरते हैं, औरों के लिये उधर इंतजाम है। खटोले पड़े हैं।" उँगली से संकेत करके—"वह देखिए, बड़े आदमियों को सुरक्षित रखने का प्रबंध जितना अपने यहाँ है, उतना और कहीं नहीं। क्या करें, पुण्य का कार्य है। बुढ़ापा सिर पर सवार है, बच्चों का भी पेट पलता रहता है।"

ऐसे समय पर ड्राइवर कभी सिर, कभी केवल पलकें हिलाकर और कभी हूँ, कभी और क्या······आदि शब्द कहकर आगे कहलवाने के लिये प्रोत्साहन देता।

"क्या करें मालिक," उसने पुनः आरंभ किया—"जमाना बहुत खराब है। अभी परसों एक साहब मोटर पर आए। हमने अपना रेट सुनाया, तो वे दूसरे शिविर में गए। रात्रि में सो गए। उसके बाद रात ही का वाक़या है, बड़ी चिल्लाहट मची।

हम लोग दौड़े गए, देखा साहब मरे पड़े। चोट का कहीं नाम-निशान भी नहीं था, जीभ अलबत्ता निकली हुई थी। लड़की अठारह साल की थी—लापता। लेकिन वह जाते कहाँ ? मैंने झट शंकर भगवान् का ध्यान कर मंत्र फूँका, साँस चलने लगी। साहब उठकर बैठ गए। लड़की का बहुतेरा पता लगाया, लेकिन न लगा पता। बेचारा रो-पीटकर चला गया। इसलिये......।" थाली की ओर देखकर—"चावल और दें...?" नौकरों पर अनु-शासन का भाव दिखाते हुए—"चलो तुम लोग, साहब को चावल लाओ। सब चीज ठीक से परोसो।"

भोजनोपरांत दोपहर में संध्या ने शशि की कहानी पूरी सुन ली। शशि से सम्वेदना करती, तो कैसे ? उसने वह attitude नहीं लिया, जो बहुधा लड़कियाँ ऐसे अवसर पर लिया करती हैं। कारण था इसका यह कि वह दीपक को जानती थी, और उसका प्रेम शक-शुबहा आदि के पार था। दूसरे, शशि को वह कैसे बताती कि जो तुमको नहीं चाहता, वह मेरे पीछे भटक रहा है—प्रेमांध होकर।" शशि ने एकाएक पूछा—"क्यों भाभी, तुमने कभी प्रेम नहीं किया ?"

"..............." संध्या सुनती रही।

"तुम्हारा हृदय तो पत्थर है। तुम क्या जानो प्रेम वगैरा। तुम तो वासना को जानती हो।" संध्या के हाथ की ओर देखकर—"अच्छा भाभी, तुम्हारी सोने की घड़ी और चैन आदि कहाँ है ?"

"सोने की घड़ी और सोने की चैन ! वह मुस्किरा पड़ी—"अब जीवन में उसकी आशा नहीं।"

"क्यों ?……मैं तो लाई हूँ, यह लो।" जेब से निकालकर—"लो, इसे पहन लो। मैं इसे तुम्हारे लिये चुपके से लेती आई। सोचा तीर्थ-यात्रा में बिना सोने की घड़ी और चैन के आनंद नहीं आएगा, और फिर जब चीज़ अपने पास……।"

संध्या दो क्षण शांत होकर शशि के मुख की ओर देखती रही, फिर उसकी आँखें डबडबा आईं—"शशि ! न अब वह घड़ी है, और न चैन ही। दोनो-के-दोनो खो गए।"

"कहाँ ?"

"वह मैं कब से ढूँढ़ रही हूँ।"

"कैसा था ? कोई दूसरा था क्या ?"

"हाँ, था।" उसके आँसू छलक आए—"था शशि ! जीवन में एक बार मिलकर बिछुड़ा, फिर न मिला—बहुत दूर हो गया।"

शाम की वेला आ गई। दूर की पहाड़ी से मृदंग और झाल की ध्वनि आ रही थी। क़रीब एक फर्लाङ्ग था।

घूमने के लिये उधर ही प्रस्ताव उठा। पैदल ही चारो चल पड़े।

भजन-भाव हो रहा था। कोई लोहे के डंडे पर कंकड़ से ठोककर ताल देता, कोई मस्त होकर नाचने लगता, कोई आवेश में—"हा राम, कहाँ हो ? हा कृष्ण, कहाँ हो ?" कहकर विलाप करने लगता। पागलों की अजीब टोली थी। एक ओर थे

सिकतासन पर भव्य ललाट के महात्मा। मुख से ज्योति निकल रही थी।

टोली में पीछे चुपचाप सब बैठे रहे। रंजन को कोई विशेष अच्छा न लगा, परंतु दोनो महिलाओं के हठ के आगे उसकी एक न चली। यहाँ तक कि दो-चार रातें इन महात्माओं के साथ बिताने का प्रस्ताव भी उसे मानना पड़ा। चुप हो गया वह। ड्राइवर भी ताली बजा-बजाकर झूमने लगा।

शशि ने सबको देखकर एक नया प्रस्ताव उठाया—"आज भोजन अपने हाथ से बनाकर महात्माओं को खिलाया जाय!" संध्या ने सहर्ष अनुमति दी। रंजन को भी मानना पड़ा।

रात्रि में शशि ने संध्या के सहयोग से कई प्रकार के भोजन बनाए। वह जो-जो बनाना जानती थी, उसने बना डाला, अचार-खटाई, नमकीन, मीठा, रसगुल्ला...... आदि अनेकों प्रकार के व्यंजन बने। प्रेम से बनाए गए।

श्रद्धा को देखकर संन्यासियों पर काफी प्रभाव पड़ा। भोजनोपरांत दस बजे के बाद से भजन होना था, शुरू हुआ। संन्यासिनी गा रही थी—

"वासना! छाँड़ प्रीति को संग।

जोग-जुगत कर जन्म बीत गए, तप महिं सूखे अंग;
नाम रटत रसना हू सूखी, केहि विधि भा सत्संग।
ताते लगन लगी छबि वाकी मनमोहन को रंग;
भजन करूँ, संतन ढिग बैठूँ, नित उठि देखूँ गंग।

छाँड़ कपट, छल-छिद्र वेष मैं नाचूँ रे नित नंग ;
लोक-लाज, पट त्याग रही मैं कसकर पलक निषंग ।
मनमोहन मैं तोहि रिझाऊँ, कैसो अद्भुत जंग !
वासना छाँड़ प्रीति को संग ।"

दूसरे दिन प्रातःकाल—

भोर होते ही महात्मा लोग गंगा-स्नान करने चले गए। संध्या और शशि भी टहलने चली गईं।

संन्यासी जल-क्रीड़ा कर रहे थे। इस जमात से दूर नीलिमापुरी जो अकेली बैठी थी, भोर में शीत वायु के झकोरे उसको छू जाते, वह काँप उठती। केश बिखरे हुए लहरा जाते। वह अकेली बैठी थी, कुछ सोच रही थी।

अचानक संध्या ने उसे पहचान लिया, पर साथ में थी शशि ! वह दूर खड़ी होकर संन्यासिनी के actions को watch करने लगी।

वह जिधर गई, संध्या भी शशि को लिए वहीं गई। ऊषा ने महिलाश्रम के कोनेवाली कुटी में जाकर अपनी तुम्बी रख दी। संध्या शशि को लिए अपने स्थान पर आ डटी, वहीं से वह संन्या-सिनी को देखती रही। संध्या को अपनी आँखों पर विश्वास ही न हो रहा था।

"ऊषा की आज यह दशा ! मैंने उसे वचन दिया था, मैंने उसके लिये दीपक को खो दिया, पर······। अब भी समय है, मैं ऊषा को इस तरह नहीं देख सकती। मैं ऊषा को भटकते कभी

नहीं देख सकती।" उसने ऊषा की कल्पित मूर्ति से कहा—"ऊषा, मैं तुम्हें इस तरह भटकती हुई कभी नहीं देख सकती। ऊषा, मैं तुम्हें ऐसा करते हरगिज़ नहीं देख सकती। ऊषा, मैं तुम्हें...।"

संध्या के अंतरात्मा से एक चीख़-सी उठी। वह चौंककर इधर-उधर देखने लगी।

भोजनोपरांत, दोपहर के समय—

अवसर देखकर संध्या अकेली तृण-कुटीर में चली गई। कोई न मिला उसे वहाँ। वह बाहर के एकआध कुटीरों को भी देखने लगी, परंतु उसमें उसे ऊषा के मिलने की आशा न थी—ऊषा मर्दों के मठ में क्यों जाती?

हृदय की तसल्ली के लिये उसने उन मठों को भी देखा। सबसे पीछेवाले मठ में उसे ऊषा का बोल सुनाई पड़ा। वह बाहर आड़ में खड़ी होकर सुनती रही।

दीपक—"ऊषा! जीवन की टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडियों पर भूलते-भटकते हम लोग कैसे मिल गए। पर तुमने यह अच्छा नहीं किया। अभी तुम्हारा यौवन छलक रहा है। ऊषा, उसके ऊपर अन्याय न करो। गुलाब-ऐसे चेहरे को तपस्या की आँच में झुलसाकर राख न बनाओ। यह ज़ुल्म होगा। ऊषा! यह बहुत ज़ुल्म होगा।"

"मैं बहुत भटकी, बहुत भटकी, पर जीवन का आसरा, यौवन का स्थायी शृंगार कहीं न मिला। मिला भी, तो ईश्वर ने छुड़ा दिया। अब मैं ईश्वर की शरण में आ गई हूँ, वह आश्रय-हीनों को अवश्य आश्रय देता है।"

"नहीं ऊषा !……"

"क्यों ?……तुम्हारा मतलब ?"

"मैं तुमको संन्यासियों के बीच लज्जा-संकोच त्यागकर……"

"कैसी लज्जा ? कैसा संकोच ? दीपक ! तुम तो बहुत ही ज्ञानी हो, कैसी ऊटपटाँग बातें करते हो ?"

"ऊषा ! मुझे नींद नहीं आती।"

"……।" वह मौन रही।

"ऊषा !" उसकी आँखें डबडबा आईं।

"कहो।"

"संसार के आगे मैं एक महात्मा हूँ, जीवन्मुक्त संन्यासी, परंतु हृदय मेरा न-जाने कैसा रहा करता है। तुम्हारे बिना मुझे बिलकुल अच्छा नहीं लगता। जानती हो क्यों ?"

"जानती हूँ, इसलिए कि तुम मुझसे प्रेम करते हो।"

"नहीं ऊषा ! मैंने जीवन में तुम्हारे साथ अन्याय किया है। अभाग्य के पैरों ठुकराई हुई एक कंकड़ी को मैं आश्रय न दे सका. मुझे जन्म-भर पछतावा रहा। तुम जन्म-भर भटकती रहीं, अब यह न हो सकेगा। मेरा कर्तव्य मुझे बाध्य कर रहा है। मुझे तुम्हारा जीवन बनाने के लिये……। जो चाहे, समझ लो।"

ऊषा मुस्किरा पड़ी। कहने लगी—"उसकी चिंता करना व्यर्थ है। यह जीवन की आखिरी सीढ़ी है। जब तक टिकना है, इसी पर खड़ी रहूँगी, उसके बाद मेरा क़दम छत पर होगा।"

"ऊषा ! यह भी कोई सीढ़ी है ? योग-भक्ति में डूबे रहो, फिर भी चिंता साथ नहीं छोड़ती। फिर मेरा मन किसी और तरफ़ खिंच रहा है। भक्ति में शांति नहीं होती, पागल बना रहता हूँ। शांति की खोज में आया था, वह न मिली।"

"फिर ?........."

"यहाँ से चले चलो।"

"कहाँ ?"

"दूर, जहाँ शांति मिल सके।"

"दीपक, क्या तुम मुझसे प्रेम करते थे ? तुमने मुझे पहले क्यों न बताया ? मैं तुमको बहुत चाहती थी, विनोद को उतना नहीं चाहती थी, क्योंकि वह कायर है। तुम मुझे बहुत पसंद थे, पर संध्या के साथ मैं अन्याय नहीं कर सकती थी। तुमने भी मुझे ठुकराया, इसीलिये मुझे विनोद के साथ रहना पड़ा।"

"............" दीपक मौन होकर सुनने लगा। ऊषा ने छत पर से गिर जाने के बाद से आरंभ किया, और अंत में उसने यही कहा—"उसके बाद जब मुझे होश हुआ, मैं विनोद के पास गई, पर वह मुझे संकोच त्यागकर पा न सके। मैंने तो समर्पण कर दिया, पर समर्पित पुष्प सदा भूमि पर गिरते हैं। मेरे वहाँ रहने से एक हिंदू-ललना का संसार भी लुटा जा रहा था। वह मेरी वजह से न-जाने क्या कर डालती। मैंने यही ठीक समझा। हृदय पर पत्थर रखकर बढ़ चली। संसार असार लगा, मैंने काषाय वस्त्र धारण किया। इससे मन में कुछ नई उमंगों ने

अँगड़ाई ली, और आत्मा को शांति तो नहीं, पर उल्लास और संतोष कुछ हद तक मिलने लगा। अब यहाँ हूँ। तुम्हारी बातों ने मेरे योग-वैराग्य पर पानी फेर डाला...............।" इतना कहकर वह दीपक के मुख की ओर देखने लगी। दीपक ने एक दीर्घ निःश्वास छोड़ी। उसे फिर सुनाई पड़ा—"यही मेरी कहानी है। तुमने अपनी तो सुनाई नहीं, कैसी है तुम्हारी कहानी? अब तुम अपनी सुनाओ।"

संध्या खड़ा सुनती रही, वह सुनकर भी न सुन सकी। दीपक का अटूट प्यार क्या वासना से डिगाया जा सकता था? क्या दीपक मुझसे प्रेम का अभिनय कर सकता था? उफ्!......सच है। जो मैंने शशि से कहा था, वह सब सच था। वासना कितनी शक्तिशाली होती है!"

वह विचारों में डूब गई। ऊषा और दीपक बातें करते रहे। संध्या का स्वप्न आज खंडित हुआ, प्रेम का महल गिरकर खँडहर बन गया। अतीत की चाँदनी रातें, नावों की सैर, कार पर घूमना आदि टूटी-फूटी खिड़कियों, झरोखों से दिखलाई देने लगे।

संध्या को दीपक से जीवन में एक बार और मिलने की आशा लगी हुई थी। वह चाहती थी कि वही मिलन उसका मधुर मिलन हो, उसका अंतिम मिलन हो, जिसके बाद संध्या दीपक से कभी न बिछुड़े। पर उसका रोम-रोम अंतर्वेदना से दुखी हो उठा— दीपक के इस पाखंड पर। उसको विश्वास न हो सका। शशि अभी खोई रही। ऊषा को तो वह जानती ही न थी।

संध्या की आँखों के आगे अँधियारा और प्रकाश बारी-बारी आने लगे।

अचानक मेघों की गर्जना और बूँदों की छमछमाहट से वह चौंक पड़ी।

जल-वृष्टि के धुँधलेपन में वह वहीं खो गई—न-जाने कहाँ?

"मैं कहाँ चली जाऊँ? किस गुफा में छिप जाऊँ? विंध्याचल में इतनी गुफाएँ हैं, या किसी निर्जन द्वीप में अकेली बस जाऊँ, या......।" वह धीरे-धीरे कहने लगी—"अब तू कहीं नहीं जा सकती, संध्या! अब तू कहीं नहीं जा सकती। जाना तो दूर रहा, तू उसका स्वप्न भी नहीं देख सकती।"

किसी ने अंदर से ही समवेदना प्रकट की—"क्यों?"

"दीपक भूलनेवाली चीज नहीं। वह कभी भी भूल नहीं सकता। वह तुम्हें सदा याद आता रहेगा।"

"मैं उसे भुला देना चाहती हूँ।"

"तुम्हारे अंदर की चीख छिप नहीं सकती। तुम झूठ बोल रही हो, तुम्हारी यह कोशिश वाक्यों और शब्दों तक सीमित है, कर तुम कुछ नहीं सकती हो। संध्या! तुम जितनी कोशिश करोगी उसे भुलाने की, उतना ही वह तुमको याद आएगा। वह तुम्हारे पास ही रहता है, तुम्हारे हृदय में......"

"मेरे हृदय में!" संध्या अपने हृदय पर हाथ फेरने लगी—"क्यों, दीपक साथ न छोड़ोगे? अब क्या चाहते हो?"

दीपक की कल्पित मूर्ति आकर खड़ी हो गई। सुनाई पड़ा

संध्या को—"दीपक को कोई छिपाकर रख नहीं सकता, दीपक के साथ रहकर भी कोई छिप नहीं सकता। संध्या! तुम्हारा साथ दीपक कभी न छोड़ेगा, मैं तुम्हारा साथ कभी न छोड़ूँगा।"

"फिर यह तुम्हारा व्यवहार!"

"नहीं संध्या! सच मानो, मैं केवल समवेदना के दो टूटे-फूटे शब्द कह रहा था। संध्या! ....तुमने क्या-क्या सोच डाला, तुमने क्या कर डाला। अब इस भ्रम को मिटाने के लिये.........।"

---

[३४]

समय—२ बजे रात्रि। अंधकार! काली रात में वे चले जा रहे थे। नाव तैरती चली जा रही थी। घाट अभी दूर था। दोनो एक दूसरे के बाहुपाश में लिपटे थे—कोई न था वहाँ! अकेले दोनो! ··संध्या और दीपक।

"······दीपक!"

"संध्या!······"

"अब हम कभी अलग नहीं होंगे. दीपक! अब हम कभी नहीं बिछुड़ेंगे?"

दोनो प्रेमावेश में एक दूसरे से लिपट गए।

"दीपक! तुम मुझसे कितना प्रेम करते हो? क्या संसार में हमारे प्रेम को कोई मिटा सकता है?"

"कोई नहीं संध्या! कोई नहीं। अब हमें कोई नहीं अलग कर सकता!"

"लेकिन फ़र्ज़!"

"कैसा फ़र्ज़?"

'दीपक! ऊषा को मैंने अब तुम्हारे सहारे छोड़ दिया है।

तुम उसे सँभाल लो। प्रेम तुम उससे चाहे न करो, पर आश्रय अवश्य दो। आज बेचारी संन्यासिनी बन गई, संसार ने उसे सदा ठुकराया है, इसलिये तुम उसे जाकर अपनाओ। अपना लो उसे दीपक!"

"..........." दीपक मौन रहा।

"क्या सोच रहे हो? हमें दुनिया की तरह संकुचित नहीं होना है। हमको, हमारे Terms को हम, तुम और ईश्वर जानता है, और......।"

"संसार कहेगा, श्वेतवसनपुरी महात्मा नहीं पाखंडी था। भक्तों पर लांछन लगेगा। ऊषा को लेकर भागने के पहले ही मैं आत्महत्या करके मर जाऊँगा। मैं इतना गिरा हुआ नहीं हूँ, संध्या!"

"भागने के लिये तो मैं नहीं कह रही, वह संन्यासिनी बनकर तुम्हारे पास रहेगी। तुम संन्यासी, वह संन्यासिनी। कैसी रहेगी?"

"और तुम?"

"मैं!......मैं कहीं चली जाऊँगी।" उसके आँसू ढुलक पड़े। गला सूख गया।

"कहीं क्या, रंजन के साथ!"

"नहीं दीपक! मैं तुम्हारे साथ कहीं दूर चली जाऊँगी। हम तीनों एक साथ चले चलेंगे।"

"..........संध्या, लेकिन......! मैं कुछ नहीं कह सकता।"

"दीपक !" आँखों में आँसू भरकर—"मैं जानती थी, तुम ऊषा को उठा लोगे। वह संन्यास नहीं, जीवन का सहारा चाहती है। मत छिपाने की कोशिश करो, दीपक !"

बनावटी क्रोध में—"मैंने तुम्हारी और ऊषा की बातें सुन ली हैं। अब तुमको उसे ग्रहण करना होगा। तुम अब कहीं नहीं जा सकते हो।"

"क्या कह रही हो संध्या, और मैं सुन रहा हूँ। अच्छा होता, यह सुनने के पहले ही......।"

"आत्महत्या कर लेते ? डूब जाते ? जहर खा लेते ? क्या करते ? बोलो, क्या करते ? यही न ?" नम्रता के साथ—

"दीपक...!" प्रेमावेश में—"जिस ऊँचाई पर मैंने तुम्हें छोड़ा था, उसी ऊँचाई पर मैंने तुम्हें पा लिया। ईश्वर की आँखों में तुम सच्चे हो। अपनी और मेरी आँखों में तुम निष्कपट हो; संसार से क्या लेना-देना ! दीपक, मैं आज बहुत खुश हूँ कि मेरा दीपक आज मुझे मिल गया।"

"ऊषा के बारे में तुम्हारा भ्रम तो नहीं है अब।"

"मैं इतनी गिरी नहीं हूँ, मैं जानती थी कि जो कुछ तुम करोगे, वह उसी प्लेटफार्म से करोगे; जिस पर संसार चढ़ नहीं सकता, और जो अपने लिये हितकर होगा। ऊषा का भी भविष्य तो देखना था।"

दीपक विचारों के प्रचंड झंझावात में उड़ता रहा। शून्य आकाश में पकड़ने के लिये कोई डाली न थी। होती कैसे ?

उतनी उचाई पर वृक्षों की पहुँच ही न थी। डाली पकड़ने के लिए उसे नीचे आना ही पड़ेगा, अन्यथा...। वह घंटों सोचता रहा। विचारों के उड़ान में उड़ता रहा।

नाव लहरों से टकराती हुई चली जा रही थी। गगन में तारे छिटके हुए थे। दूर से कुत्तों के भूँकने की आवाज़ निस्तब्धता में चीख मार जाती थी। नाव वैसे ही मंद-गति से......!

कुछ देर बाद—'संध्या! अब तुम्हें छोड़कर कहीं नहीं जा सकता हूँ। अब मैं अपने मंजिल पर पहुँच गया हूँ। तुम्हें छोड़-कर कहीं नहीं जाऊँगा।" इतना कहकर दीपक ने संध्या को चिपटा लिया। उसका गला भर गया।

संध्या की आँखें भी डबडबा आईं। दोनो एक दूसरे से घंटों लिपटे रहे। नाव चली जा रही थी।

अचानक निस्तब्धता पुनः भंग हुई—"संध्या!" दीपक का गला सूख गया—"एक चीज़ मागूँ तुमसे?"

"...कहो।"

"एक मुस्किराहट दे सकोगी?"

"भीख माँगना तुमने कबसे सीखा?"

"........." दीपक ने सिर नीचा कर लिया।

"दाम दो, और चीज़ ले लो।" कैसे मुस्किराऊँ?"

"उधार ही सही।" दीपक मुस्किरा पड़ा।

दोनो खिलखिलाकर हँस पड़े। वातावरण गूँज गया। हँसी

से शीत वायु का एक झोंका आकर संध्या और दीपक को छू गया। दोनों सिहर-से उठे।

दो क्षण बाद दूर पहाड़ी से एक गीत सुनाई पड़ा—

"मैं जोगन बन जल रही, चंदा हँसे आकाश,
प्रीतम की सुधि में फिरी बेसुध, दुखी, निराश।

श्वास स्थगित कर दोनों सुनने लगे। वेदना से पिघलकर नयन डबडबा आए। संध्या और दीपक! वैसे ही ····फिर सुनाई पड़ा—

"बचपन बीता प्यार में, यौवन मस्त उदास,
जीवन-दीपक बुझ गया, रह गई कोरी लाश।"

"कौन है यह?" घबराकर संध्या दीपक से लिपट गई।

"आओ चलें, उधर ही चलें।" दीपक भावनाओं में उठकर खड़ा हो गया।

"नहीं दीपक!···अच्छा, चलो।"

अचानक नाव किनारे आकर टकराई। दोनों उतर पड़े। चले उधर ही। सुनाई पड़ा—

"विनोद! तुम मुझे ग़लत मत समझो।"

"···!········"

"दीपक से मैं कभी प्यार नहीं कर सकती, पर समाज में रहने के नाते उसके रहन-सहन और व्यवहार को देखकर अपना शरीर अर्पण कर देने में न हिचकूँगी। तुम तो मुझे

उठा न सके, तुम मजबूर भी थे। जीवन में रोना ही लिखा है, घुट-घुटकर रोना। हँसोगे कैसे ? तुम नहीं हँस सकते।"

"...... ......"

"जानते हो, विनोद ने क्या कहा।" वह मुस्किरा पड़ी—"उसने कहा था कि उसे मेरे बगैर अच्छा नहीं लगता, मैंने भी उससे कह दिया कि मुझे भी उसके बिना अच्छा नहीं लगता। विनोद ! अटल रहना अपनी जगह पर। ज़रा इधर-उधर क़दम रक्खा कि......। और, अगर फिसले, तो यह विंध्याचल पहाड़ की चट्टानें तुम्हें ज़िंदा न रहने देंगी।"

"..........."

संध्या अपने को न रोक सकी, वह ऊषा के आगे झपटकर खड़ी हो गई। ऊषा का स्वप्न टूटा, वह चौंककर पीछे हट गई। अधीर स्वर में बोल उठी—"तुम आ गए न ! मैं जानती थी कि तुम आओगे।"

"क्या बक रही हो ऊषा ?" संध्या गरज पड़ी।

"ऊषा !......" दीपक विकलित स्वर में फूट पड़ा।

"ओह ! दुनियावाले आ गए ! क्रूर समाज के वकील आ गए ! क्या करने आए हो तुम लोग ? कितने हो तुम लोग ? मैं सबको शेरनी की तरह फाड़कर खा जाऊँगी।"

"ऊषा !" संध्या चीख पड़ी—"ये तू क्या कर रही है ? संध्या को भूल गई ? यह दीपक बाबू हैं, इनको भी भूल गई ?"

"दीपक ! दीपक बाबू !" ऊषा चौंक गई।

वह दीपक के पास जाकर खड़ी हो गई। कहने लगी—"दीपक! तुम संध्या को खोजते रहे, वह तुमको खोजती रही। अब दोनो जने मिल गए।" फिर वह फूटकर रो पड़ी, और सिसक-सिसककर कहने लगी—"ऊषा अकेली रह गई। उसको कभी विनोद याद आता है, कभी दीपक; कभी संध्या, और कभी ईश्वर। मौत भी याद आती है, परंतु मिलता कोई नहीं। वह किसी से न मिल सकी।"

दीपक कड़क उठा—"ऊषा! बस, खामोश।"

ऊषा डर गई। चौंककर इधर-उधर देखने लगी, फिर एकाएक कहने लगी—"दीपक, जरा मुझे होश में आने दो, मैं पागल बन गई हूँ, पागल।"

"क्या बात है, ऊषा!" संध्या उसके गले में बाहें डालती हुई कहने लगी—"क्या बात है?"

"पता नहीं, मैं अभी क्या-क्या कह गई। तुम दोनो मुझे माफ़ करना। मैं कहाँ हूँ, और तुम लोग कैसे आ गए, यह भी मैं नहीं जानती। बस, इतना जानती हूँ कि......कि।"

बीच में ही उसे संध्या ने रोक लिया। बोली—"अच्छा, उस पार चलो, आश्रम में बातें करना।"

कुछ देर बाद नाव छूटी, और चल पड़ी उस पार। महिलाश्रम में जाकर नीलिमापुरी सो रहीं, पर नींद कहाँ? यथोचित स्थानों पर दीपक और संध्या भी चले गए।

दूसरे दिन मध्याह्न-बेला में, जब कि संन्यासी और दर्शक

आदि सो गए, श्वेतवसनपुरीजी के मठ में वे तीन थे—दीपक, संध्या और ऊषा। दीपक और ऊषा सुन रहे थे, संध्या कहती जा रही थी—"बस! अब मेरी यही आखिरी तमन्ना है, आज ही शाम को। मैं जीवन-भर कोशिश करती रही, पर ऊषा को मेहावर, चूड़ियों और घूँघट में न देख सकी। आज देखना चाहती हूँ, अब मैं नहीं रुक सकती। मैं जानती हूँ कि हमारे प्रेम के पौधे पर यह तुषारीपात होगा, पर यह पौधा ऐसा कोमल नहीं है।" दीपक की ओर देखकर—"क्यों दीपक, तुम्हारा क्या खयाल है?" फिर ऊषा की ओर देखकर—"ऊषा! आज तुम दीपक से शादी कर डालो। छलकते हुए यौवन को दुःख और नैराश्य की लपटों से न झुलसाओ। आज तुम दुलहन बनोगी, उसके बाद···और मैं तुम्हें देखती रहूँगी। कितनी मधुर घड़ी होगी।

"दीपक! आज मैं बहुत .खुश होऊँगी, तुम भी .खुश होओगे, आज .खुशी का त्योहार मना ही लिया जाय।"

दीपक चुप रोता रहा, ऊषा कभी संध्या और कभी दीपक की ओर देखती चली जा रही थी। कुछ मुस्करा रही थी, कुछ लजा रही थी—उसका भावी दुलहा उसके सामने बैठा था।

अचानक संध्या उठ खड़ी हुई, और चल पड़ी। आगे जाकर रुक गई, और मुस्किराकर कहती हुई लौट पड़ी—"ऊषा! तू आज शृंगार कर ले, मैं भी आज .खूब बन-ठन लूँगी, और दीपक यह

साधुत्राना लिबास छोड़कर भले आदमी बन जाओ। युनिवर्सिटी में तुम कैसे अच्छे लगते थे !"

दीपक विष के घूँट की तरह पीता जा रहा था। संध्या की मुस्किराहट में स्वाभाविकता थी, पर शब्दों में उपहास क्यों? कहीं मेरी ही बुद्धि तो भ्रष्ट नहीं हो गई, कहीं मैं संध्या को समझ सकने के लिये पर्याप्त न हूँ, ऐसा तो नहीं है? दीपक विचारों के झंझावात में खो गया। अतीत की स्मृति नाच गई उसकी आँखों में। संध्या इस तरह तो मुझसे कभी न कहती थी, आज कैसे कहने लगी? एक प्रेयसी का यह कहना सर्वथा अस्वाभाविक है, पर ऊषा के लिये न-जाने वह कब से ऐसे ही कहती चली आ रही है। मेरा भ्रम ठीक था—वह न-जाने क्या-क्या सोचता। कभी-कभी जो सोचता—विचारों के करवट बदलते ही उसे खंडित कर देता। कोई निश्चित बात उसकी समझ में नहीं आ रही थी। संध्या बदल गई कि वह बदल गया या दुनिया के साथ दोनो बदल गए। क्या प्रेम में ऐसा हो सकता है? तो क्या मैं अभी तक बच्चों का खिलवाड़ करता रहा? क्या मैं नाटक करता रहा?

उसने अपने भीतर किसी से प्रश्न किया, पर उत्तर उसे कोई न मिला।

संध्या चली जा रही थी। आज उसकी ख़ुशी की सीमा न थी, और न दुःख की थाह ही। आज फ़ैसला था—वियोग-भरे जीवन, या हँसी-ख़ुशी की जिंदगी का।"

क़दम रखती वह चली जा रही थी—एक-एक पग। हर्ष और

विषाद के एक-एक पग उठते, एक-एक आँसू गिरते और एक-एक आहें निकल रही थीं।

सामने संध्या अरुणिम ज्योति में मुस्किरा रही थी। नुकीले पत्थरों से टकराते, पगडंडियों में गिरते-पड़ते और गड्ढों में फिसलते हुए वह चली जा रही थी—एक अनजान पथ की ओर।

पसीने से वह लथपथ हो गई। मस्तक पर स्वेद-बिंदु बिंदी के चारों ओर पहरा लगाए थे, जैसे किसी पिंजड़े में लाल चिड़िया। पिंजड़ा!—जिसमें फँसने के बाद कोई उड़ नहीं सकता, बंदी बनकर घुट-घुटकर मर जाना होता है। संध्या का जीवन भी उसी के समान था। वह बंदी थी—ठीक उसी तरह। बिंदी की चौकीदारी करनेवाले स्वेद-बिंदुओं के ऊपर उसे क्रोध आया। उसने हाथ से पोंछ डाला—मिट गया उनका अस्तित्व, टूट गया बाँध। अब उसे कौन रोक सकता था? वह बढ़ी चली जा रही थी, भावों में, उमङ्गों में, वेदना के साथ······।

सिर पर से अंचल खिसक-खिसककर उरोजों पर लोट जाता, वह मतवाली बनी चली जा रही थी। उमंगों की नुकीली पिटारी खुल गई—विंध्याचल की नुकीली चट्टानों को देखकर। उसे आज जीवन की परवा न थी, कपड़े की परवा क्या हो? दीपक के प्रति उसके हृदय में न-जाने कैसे भाव पैदा हो रहे थे। दीपक ही उसके चिंतन का विषय था। वह सोचती चली जा रही थी। अंचल एकाएक उसने उठाकर सिर पर रख लिया। फिर बढ़ चली।

मस्तक पर से पसीने की बूँदें लकीरें बनाती हुई गुलाबी गालों पर टिक गईं। टिकतीं क्यों न? यही तो निगाहों का धर्मशाला है। वहाँ दूर-दूर से पथिक आ-आकर रहते हैं, पर स्थायी रूप से नहीं—ऐसे कि आए, और चले गए। बूँदें भी आकर रुकीं, और चल पड़ीं, पर इससे उनका अस्तित्व नहीं मिट गया। स्मृति की लकीरें वैसी ही बनी रहीं। वे भला कैसे मिटतीं—उन्हीं डरियों के सहारे तो वैसी न-जाने कितनी बूँदें आने-जानेवाली थीं।

उसका हृदय चीख पड़ा—"दीपक! अब यही रास्ता है।" उसी रास्ते पर वह बढ़ी चली जा रही थी।

कोलाहल सुनाई पड़ा—बाजार का कोलाहल, दुनिया की चीख।

वह सँभलकर चलने लगी। सामने एक पंडा खड़ा था। संध्या ने प्रश्न किया—"मेहावर, चूड़ियाँ और सिंदूर, ये सब कहाँ मिल सकेंगे?"

"आइए मेरे साथ।" उँगली सामने दिखाकर—"वह देखिए, दो-तीन दूकानें हैं। इधरवाली में मेहावर आदि सब मिल जायगा। पुष्प-बेल आदि के लिये तो कोई अच्छी दूकान है नहीं।"

"कैसे भी हों, हमें तो पुष्प से मतलब।"

"हाँ, ठीक, परंतु ये लोग दो-दो दिन का मुरझाया फूल रखते हैं।"

"तो ?"

"यहाँ से थोड़ी दूर एक बग़ीचा है, उसमें फुलवाड़ी भी है। बड़े सुंदर-सुंदर फूल हैं उसमें। कमल और कोकाबेली भी आपको मिल जायगी।" वह मुस्किराकर कहने लगा—"एक बड़ा सुंदर तालाब है वहाँ, जिसमें कमल अपनी पंखुड़ियों से झाँका करते हैं। कमल के बड़े-बड़े पत्ते तालाब के ऊपर छाए रहते हैं। बड़ा मधुर स्थान है।"

"तो वहाँ चल सकोगे ?" दो क्षण के लिये वह मुस्किरा पड़ी।

"यहीं पर है, क़रीब डेढ़ फर्लाङ्ग। आप खुद चली जाइए, कोई डर नहीं है।"

"और तुम ?" कुछ निराश होकर।

"मैं जरा यात्रियों की देख-भाल में लगा हूँ। हर तरह के आदमी से निबटना होता है। क्या करूँ सरकार! हमारी यही रोज़ी है।"

संध्या के हृदय-कगार में उद्यान की मनमोहिनी छटा टक्करें ले रही थी। दो क्षण के लिये वह भावावेश में भूल प्रकृति-सौंदर्य में खो गई......।

मुस्किरा उठी वह, फिर चल पड़ी अकेली—शायद उसी ओर। और जाती ही कहाँ? वही तो एक रास्ता था, उसी पर चली जा रही थी वह। पग आगे और मन पीछे, दोनो चले जा रहे थे। वह दीपक को कैसे भुला दे? दीपक संध्या को भूल ही नहीं सकता—दोनो का जन्म-जन्मांतर का साथ है।

दीपक की कल्पित मूर्ति सामने आकर खड़ी हो गई। संध्या की आँखें डबडबा आईं। लालिमा बढ़ने लगी, उसमें आँसू रह कहाँ गए थे ? पर लालिमा और आँधी बढ़ती ही गई।

धूल से भरा हवा का एक झोंका नाचता हुआ निकल गया। देखते-देखते सारा आकाश लाल हो गया, और फिर जल्दी-जल्दी अँधेरा होने लगा।

संध्या रास्ते में थी, और दीपक न-जाने कहाँ था। तूफ़ान बढ़ता ही गया, किवाड़ों और खिड़कियों के खुल-खुलकर बंद होने की आवाज़ बढ़ती ही गई।

धूल से भरा एक झोंका संध्या की आँखों में पड़ा, और वह वहीं बैठ गई। थोड़ी दूर पर एक पीपल का वृक्ष गिरा, और जंगलों से स्यारों के रोने की आवाज़ आने लगी। संध्या का हृदय धक् से कर गया—यह सब क्या हो रहा है ! जाने क्या विपत्ति आनेवाली है ! कुछ भी हो, उसने अपना कर्तव्य निर्धारित कर लिया था। वह देर होने के भय से शीघ्र ही आँख मलकर उठ खड़ी हुई, और चल पड़ी वापस, लेकिन क्यों ? वह वापस क्यों लौटे ? अभी जिसके लिये वह यहाँ तक आई थी, वह कार्य तो हुआ ही नहीं, और वह पुनः चल पड़ी। बतलाया हुआ तालाब एक पीपल के वृक्ष के पास डबडबाई और धूल-भरी आँखों से देख रहा था।

संध्या रोती जा रही थी, उसने साड़ी समेटकर कुछ पुष्प-बेल इत्यादि अंचल में बाँध लिए, और तीव्र गति से चलने

लगी। आँधी एकाएक मंद पड़ गई, तरंगिनी मुस्किरा पड़ी, और तरंगों के विषम अट्टहास में हू-हू और छम-छम के संयोग के साथ एक आर्त वेदना सुनाई पड़ी—जैसे जो कुछ हो चुका था, वह सब एक खिलवाड़ था, उन तरंगों के साथ खेलने की सामग्री। उसी की प्रतीक्षा में लहरें बार-बार दुकूलों से टकराने लगीं। वृक्ष श्वास रोके कब से खड़े थे, वे भी प्रतीक्षा न कर सके, और एक लम्बी श्वास के साथ पत्तियाँ काँप गईं।

सूर्य डूब न जाय, संध्या के पग तीव्रता से बढ़े, जाने ये विचारों का क़ाफ़िला किधर जाके रुकेगा—वह सोचती चली जा रही थी—बस, आज की सन्ध्या और""कल जाना था, हमेशा के लिये जाना था। जाने कब मुलाक़ात हो, लेकिन मुलाक़ात तो हृदय में भी हो सकती है—नहीं-नहीं, ये ग़लत है, और बस, मन को समझाने के लिये है। मानव-प्रकृति निराश हो जाने के बाद प्रायः यही attitude अपनाती है, और संध्या को वास्तव में अलग होना ही होगा। लेकिन क्यों? क्या उसका अपना कोई व्यक्तित्व ही नहीं? ऐसा नहीं हो सकता। संध्या समाज से, दुनिया से और सबसे लड़ जायगी—बस, दीपक को पाने के लिये।

भीतर से ही संध्या के किसी अपने ने प्रश्न किया—"लेकिन तुम तो उसे किसी को दे चुकी हो, क्या वह सब भावावेश दिखाया था? अपना तुम्हारा यही ideal रहेगा, क्या तुम संसार को यही आदर्श सिखाओगी।" "नहीं-नहीं!" किसी ने तुरत

उत्तर दिया, और दूसरे ही क्षण एक और विभूति ने उस नहीं की भी आलोचना कर डाली—"क्या वह सबको आदर्श दिखाकर अपनी हँसी-खुशी की जिंदगी हमेशा के लिये खत्म कर दे ?"

"लेकिन ऊषा के लिये तो उसने………।"

"नहीं, संध्या ! तुम मजबूर होकर अपनी मुहब्बत का गला मत घोटो, अपने हाथों फ़र्ज़ की रस्सी बटकर मुहब्बत के गले में फाँसी का फंदा न लगाओ। ये तुम्हारी जबरदस्ती है, ये तुम्हारी ज्यादती है। देखो संध्या ! ऐसा न करो।"

स्मृति-पटल पर अबकी बार ऊषा का चित्र नाच गया, जाने कहाँ होगी, क्या सोच रही होगी—शायद यही कि उसका जीवन सुधर जायगा, और वह खूब सुख से जीवन बिताएगी, लेकिन…… लेकिन क्या ? क्या सचमुच उसकी ख़ुशी मेरे ही हाथों में है ? फिर मैं क्यों न उसकी ख़ुशी लौटा दूँ ? संसार में मनुष्य ऐसे ही एक दूसरे से सम्बन्धित रहता है, ईश्वर का कोई अलग पार्ट नहीं होता। वह मानव में ही सत्य और सुबुद्धि बनकर आता है, बल्कि मानव ही ईश्वर होता है, परंतु वैसे ही, जैसे काई से ढका हुआ जल……हाँ,…ख़ैर, इस फ़िलासफ़ी से काम न चलेगा, समय कम है। संध्या ! सोच लो, जो कुछ सोचना है।

"क्या सोचूँ, कुछ समझ में नहीं आता। situation बहुत intricate कितनी जटिल समस्या है, संध्या !" मन ने कहा।

"अब तुम्हारा कोई साथ न देगा, तुम्हें कोई समझ नहीं सकता है। बस, एक ईश्वर है, वही समझ सकेगा।

दूर पर मुरली लहरा गई—"बस, तुम्हीं साथ दे सकते हो, भगवान्! और कोई नहीं।"

शिविरवाला पीपल सिर झुकाए था। लहरें दूर से शोर मचाती हुई संध्या की ओर चली आ रही थीं, जैसे कहना चाहती हों—हमसे भागो मत, हम तुम्हें कब से बुला रही हैं। संसार ठीक नहीं है—आऽऽऽऽऽऽओ ऽऽऽऽऽ

संध्या भयभीत हो उठी—क्या उसे अंत में लहरों में मिलना पड़ेगा!—साड़ी तो भीग जायगी।

वह अपने ऊपर मुस्किरा पड़ी। धीरे से एक उत्तर भी मिल गया—"सबके ऊपर मुस्किराने के साथ अपने ऊपर भी मुस्किराना सीखो।"

"सीख तो रही हूँ, अब क्या चाहती हो?"

उसकी आँखों के आगे अँधियारा छाने लगा। संध्या के धुँधले प्रकाश में उसे दीपक, ऊषा और रंजन की छायाएँ परेशान करने लगीं। सबको अपने सामने देखकर परेशान और भयभीत होकर खड़ी हो गई। दीपक—"हूँ संध्या! तुम मुझसे धोखा करना चाहती हो?"

ऊषा—"संध्या! इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है, अपना-अपना भाग्य है। तुम्हारा सुख कोई छीन नहीं सकता, न मेरा दुख कोई बाँट सकता है। मैं जीवन-भर भटकती रही, और......अंत में भटकते-भटकते मर जाऊँगी।....."

रंजन—"संध्या ! यदि मैं जानता कि पढ़ी-लिखी लड़कियों की यह हालत होती है, तो तुमसे कदापि नहीं शादी करता।"

और, सबकी डरावनी बातें तो वह सुन ही रही थी; पर अंत की बातें वह न सुन सकी। क्रोध में फूट पड़ी—"तुमको किसने बुलाया था। अपने आप आए, और शादी कर ली। तुम्हारे-ऐसे नीच व्यक्ति से तो मैं बात तक न करती।"

भीतर से ही Superego ने तुरंत याद दिलाया—"देखो, तुम पति का अपमान करके समाज को ग़लत रास्ता दिखाना चाहती हो।"

उसके स्वतंत्र विचारों (Id) ने तुरंत इसका खंडन किया—"वह विचार, जो दुनिया को हमेशा से बरगला रहे हैं; वह रस्म-रिवाज, जो आँखवाली और अंधी, दोनो के लिये एक-से हैं, सब ग़लत हैं, और संध्या उनका विरोध करेगी।"

उसके अधर हिले, और शब्द सायँ-सायँ करते हुए पवन के मंद झकोरों में खो गए और पल्लवों ने भी कुछ साँस में ही कुछ कह डाला। संध्या अवाक् रह गई। शब्दों की टोली पत्तों को छू-छूकर एक चक्र-व्यूह बनाने लगी।

एकाएक वह आगे बढ़ गई।

कुंजरायन की धुँधली आभा से दूर—स्रोतस्विनी के तट पर, शिला-खंड पर, ऊषा लहँगा फैलाए बैठी थी। संध्या समीप बढ़ती ही गई, और ऊषा मुस्किरा पड़ी। दोनो के गालों पर मुस्किराहट की लाली दौड़ गई।

ऊषा मुस्किराती रह गई, पर संध्या के कपोलों पर दो आँसू ढुलक आए।

ऊषा पूछ बैठी—"ये क्या संध्या! तुम रो रही हो?"

"ये खुशी के आँसू हैं, दुःख के नहीं ऊषा!"

"कल तो शायद तुम जा रही हो?"

"तुम्हें कैसे मालूम?"

"रंजन ने कल कहा था।"

"तुमसे?"

"नहीं, कल शाम की बैठक में।"

"अच्छा, दीपक कहाँ है?"

"वह तुम्हारी बहुत देर से प्रतीक्षा कर रहे हैं—अपने शिविर में।"

"आओ, चलें।" संध्या ने रूखे स्वर में कहा।

ऊषा संध्या के मुख पर देखकर मामला परखने की चेष्टा करने लगी, और अंत में बोल उठी—"अभी आती हूँ, तुम चलो बहन!" संध्या दीपक के शिविर में पहुँच ही गई। भीतर देखा, तो दीपक सो रहा था।

"उठो, दीपक!" उसने आवाज दी।

दीपक ने आँखें खोलकर फिर बंद कर लीं।

"दीपक!······"

"तुम आ गई, आओ।"

"आज मुझे जाना है। दीपक, पहुँचाने चलोगे कुछ दूर?"

"पहुँचाने चलूँगा ।" वह मुस्किरा पड़ा—"पहुँचाने चलूँगा !"

"दीपक ! तैयार हो न ?"

"किसके लिये ?"

"जिसके लिये मैं ये फूल-पत्ते लाई हूँ, यह सिंदूर-चूड़ियाँ लाई हूँ।"

वह हँस पड़ा—"संसार चक्र भी खूब है। फूल-पत्ते !" फिर थोड़ा रुककर सोचने लगा, और मुस्करा पड़ा।

संध्या प्रश्न कर बैठ गई—"क्यों मुस्किरा पड़े ? देखो जी, देर हो रही है।"

दीपक क्षण-भर में मुस्किराकर दुखी हो गया, और कहने लगा—'संध्या ! मैं अपनी क़िस्मत पर मुस्किरा रहा हूँ, और जो तुम कह रही हो फूल-पत्ते के बारे में न, तो वह मेरे मरने के बाद पुष्पांजलि अर्पित करना। तुमने सिनेमा में देखा ही होगा, गांधीजी की समाधि पर पुष्पांजलि में विदेशी राजदूत लोग फूलों की माला चढ़ाते हैं—जैसे मोटर का टायर, तुम भी वैसा ही करना।" वह मुस्किराकर कहने लगा—"ऊषा कहाँ है ? कह दो, लहँगे और चुनरी में सज-धजकर आवे। जो अभी तुमने पहुँचाने के बारे में कहा था, सो हम दोनो तुम्हें पहुँचाने चलेंगे। और, शायद एक बात तुम न जानती होगी, आज की संध्या में दीप पहले बुझेगा, तब संध्या। ऊषा तो नित्य की तरह

चली जायगी। वह तो अकेली ही सदा आती है, क्योंकि उसको अकेला ही जाना होता है।"

संध्या चुपचाप बैठ गई, और दीपक के हाथ को अपनी बाहों पर से ले जाती हुई आर्त स्वर में फूट पड़ी—"दीपक! तुम्हारी गहराई का पता नहीं चलता है, जाने क्या-क्या कह रहे हो? कुछ समझ में नहीं आता।"

दीपक ने संध्या के सिर को उँगलियों से सहलाते हुए वक्ष पर सुला लिया, और दो क्षण बाद प्रमावेश में दोनों लिपट गए। अस्फुट कंठ से दीपक बोल उठा—"संध्या! मैंने कहा था, दूर जाना होगा।"

"हाँ, दीपक! तुमने कहा था। चलो......।

"सच!" आश्चर्य प्रकट करते हुए—"क्या यह सच है?"

"हाँ, सच। चलो, दीपक!"

"संध्या! एक बात सुनो...।"

"क्या?" धीरे से स्वर फूट पड़ा पवन में—"कहो न।"

"काश जो मैं मर जाऊँ, तो तुम क्या करोगी?"

इतना कहते-कहते दीपक का गला भर आया, और संध्या की बरसाती आँखों से दो आँसू टूट पड़े। गला साफ करती हुई वह हँस पड़ी—"दीपक! उस समय, मैं, दीपक! ......।" वह सिसक-सिसककर हँसने लगी। आँसुओं की धाराएँ बहती चली जा रही थीं—"उस समय मैं क्या करूँगी? तुमसे शादी करूँगी—

खूब सज-धजकर। साड़ी-गहने पहनकर तुम्हें गोद में ले लूँगी और जहर खा लूँगी। पीछे जब मेरी भी आँखें बंद होने लगेंगी, तो कोशिश यही करूँगी कि साथ-ही-साथ चिता में जलूँ, या साथ-ही-साथ सदा के लिये सो जाऊँ। लेकिन तुम ऐसा कह क्यों रहे हो? दीपक! तुम कभी भी न मरोगे। मैं तुम्हें मरने न दूँगी।

दीपक हँस पड़ा।

दो क्षण पूर्ण निस्तब्धता छाई रही।

दीपक—"संध्या! जाने क्यों ऐसा लग रहा है कि हमारा-तुम्हारा साथ छूटनेवाला है। क्या बात है?"

संध्या—वही, जो मैंने बता दिया था कि मैं कल जानेवाली हूँ, उसी से।"

दीपक—"तो क्या तुम मेरे लिये रुक न सकोगी?"

संध्या—"............"

दीपक का हृदय संध्या की चुप्पी से रो पड़ा। जिस संध्या के लिये उसने जीवन नष्ट कर दिया, वह संध्या दीपक के लिये... वह चुपचाप मुख फेरकर खड़ा हो गया, और तीर की तरह पीपल के वृक्ष के पास तना पकड़कर खड़ा हो गया। उसका हृदय फूटकर रो पड़ा, और लाख साँस रोकने पर भी वह फफक पड़ा।

संध्या भी पीछे-पीछे आई, और चुपचाप खड़ी होकर दी

क्षण दीपक का बालक की भाँति फूटकर रोना देखने लगी। वह स्वयं फूटकर रो पड़ी, और थोड़ा हटकर सिसकने लगी।

दीपक एकाएक उठ खड़ा हुआ, और शैवलिनी के समीपस्थ तट की ओर जल्दी-जल्दी बढ़ने लगा। संध्या अब अपने पर नियंत्रण न कर सकी, तुरत आगे बढ़कर दीपक से लिपट गई। दीपक ने उसकी ओर एक बार देखा।

संध्या की आँखों में आँसू देखकर वह वहीं स्तब्ध हो गया। संध्या हिचकियाँ भरती हुई बोल पड़ी—"दीपक, मुझे माफ करो, मैं सब कुछ करने को तैयार हूँ।"

दीपक वहीं बैठ गया, और संध्या भी वहीं—दोनों बैठे रहे। बस, दीपक की साँसें उलटी चलने लगीं। वह एकाएक घबड़ा गया, और तीखी नजर फेंकते हुए संध्या से हकला पड़ा—"क्या बात है, संध्या! मेरा जी क्यों घबड़ा रहा है? देखो संध्या, मैं भीतर छटपटा रहा हूँ। शायद अब मैं न बचूँगा। देखो संध्या, अब मैं घंटे-दो घंटे का मेहमान हूँ। आओ, हम जी भरकर मिल लें। अर...ए...ए मैं बोल न पाता......जबान लड़खड़ा रही है।"

संध्या चीख पड़ी—"दीपक! दीपक! यह क्या, यह क्या!" दीपक मुस्किरा पड़ा, पर खिलखिलाहट के सिवा और कुछ मुख से न निकला। जबान शिथिल हो चुकी थी, अंग-अंग टूटने लगा। संध्या घबड़ाकर कभी उसका हाथ पकड़ती, कभी

पैर टोती, और कभी उसके हृदय पर सिर रखकर चिपट जाती।

संध्या दीपक से चिपटकर पीपल के नीचे लेटी थी। दीपक की आँखें संध्या में घुसने लगीं। वह स्तब्ध होकर एकटक संध्या के शांत मुख की ओर देखता चला जा रहा था। दोनो की आँखें डबडबा आईं, और टप-टप आँसू बह चले।

दीपक की आँखों से आभास होता था, जैसे वह कुछ कहना चाहता था, पर जिह्वा शिथिल हो गई थी, हाथ पैर सब अकर्मण्य हो रहे थे। कुछ क्षण के बाद शब्द अधरों को लाँघते निकल ही पड़े—"देखो न संध्या, मैं कहता था कि आज की संध्या में दीप पहले बुझेगा। बस, अब मैं बुझा। तम!" और, उसके बाद उसने प्यार में अपने दोनो हाथ ऊपर उठाकर संध्या के मुख को पकड़ लिया, और समीप खींचने लगा। संध्या ने मुख बिलकुल पास कर दिया। पलकें टकराईं, आँखों में आँखें घुसने लगीं, और दो क्षण बाद साँसें भी मिल चुकी थीं। जाने कब तक वे वैसे पड़े रहे। संध्या ने सिर उठाया, तो दीपक का उठा हुआ हाथ भूमि पर गिरा था, अंग डंडे और काठ जैसे जकड़े हुए।

संध्या के आगे ही दीपक बुझ गया। उसको फ़ौरन् याद आया कि दो क्षण पहले उससे दीपक ने पूछा था—"संध्या! काश मैं मर जाऊँ, तो क्या होगा?" और उसने उत्तर दिया था—"दीपक! मैं तुम्हें ·····" संध्या के आँसू छलछला आए।

इतने में वहाँ रंजन आ गया, और देखते ही उबल पड़ा—"क्यों संध्या ! यही करने तुम आई थीं ? घर की इज्जत आबरू, खानदान, रस्म-रिवाज, कुछ भी तो ख़याल किया होता !" जेब में से रिवाल्वर निकालकर—"लो, और मुझे ख़त्म कर दो।"

संध्या चुपचाप रोती रही, और रंजन की बात की तरफ़ तो उसका ध्यान भी न गया। एक हाथ दीपक के सिर पर रक्खे, दूसरे हाथ में उसने रिवाल्वर ले लिया।

"रंजन !" संध्या फफक-फफककर रोती हुई फूट पड़ी—"यह समय बहुत क़ीमती है। अच्छा, समझो, तो disturb न करो।"

"बस ! बहुत हो गया संध्या ! एक बार और disturb करूँगा। गोली चलाओ। देखो, मैं तुम्हारे सामने खड़ा हूँ।"

"रंजन ! मैं अबला हूँ, और तुम जो चाहो, कह सकते हो। ये रिवाल्वर पुरुष ही चला सकते हैं। स्त्रियों पर आरोप मत लगाओ।"

"संध्या ! और मैं कुछ नहीं कहना चाहता हूँ। रिवाल्वर लाओ, मैं तुम्हें शूट कर दूँगा। पुरुष सब कुछ देख सकता है, पर अपनी स्त्री पर दूसरे पुरुष की छाया वह कदापि नहीं देख सकता।"

"रंजन ! तुम गोली चला सकते हो ! मैं संसारवालों की निर्दयता सहने की आदी हो गई हूँ।"

संध्या ! तुम मुझको संसारवालों का Representative समझती हो, न क्या ? तुम्हें पता नहीं कि मैं भी तुम्हें प्यार करता हूँ, और तुम्हें गोली से मारकर Suicide कर लूँगा। अब यही रास्ता है।"

"रंजन ! तुम प्यार की ओट शिकार नहीं कर सकते। संध्या जिसकी थी, उसी की होने जा रही है। मैं अब दो-चार घंटे की मेहमान हूँ। हँस-रोकर जी लेने दो, प्रेमी बनने की कोशिश मत करो। दीपक में बस पतंगा ही जलता है।"

"संध्या ! बाहर के पतंगे को सब कोई देखता है, पर धीरे-धीरे जलनेवाले तेल को कोई नहीं देखता।"

"तेल जलकर खत्म हो जाता है, पर दीप तब भी जला करता है।"

"बस, संध्या ! अब तुम्हारा यह दीपक और बाती का खेल नष्ट हुआ समझो। मैं तुम्हें मार देने पर मजबूर हूँ। तुम्हें समझाना-बुझाना बेकार है, लगी नहीं छूट सकती।

रंजन ने हाथ तान लिए, पर पिस्टल काँपने लगा। उसने साहस करके हाथ कड़ा किया, और दीपक की ओर देखकर क्रोध एकत्रित करते हुए उसने गोली छोड़ ही दी। उसने स्वयं मुख फेर लिया।

"धायँ......!"

"...आह......!" पीड़ा से कराहती हुई आवाज गूँज उठी।

उसने मुख फेरकर देखा, तो लाल-पीले वस्त्रों में घूँघट डाले एक युवती भूमि पर पड़ी छटपटा रही थी। रंजन आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगा। संध्या उठकर खड़ी हो गई, और गरज पड़ी—"नीच! यह तूने क्या किया......? अब एक गोली और चला, वर्ना रिवाल्वर मुझे दे।"

रंजन शोक में डूब गया। उसने सिर नीचा कर लिया, और आर्त स्वर में बोला—"बहन! मुझे क्षमा करो; मैं अपराधी हूँ, और इसका प्रायश्चित्त करना चाहता हूँ।"

ऊषा उसे अपरिचित और भय-त्रस्त दृष्टि से देखने लगी। संध्या ने रिवाल्वर लेकर निशाना ठीक किया, और बोली—"इसका प्रायश्चित्त बस मृत्यु है, तैयार हो जाओ।"

"तैयार हूँ!" उसने मुस्किराकर कहा—"संध्या, मैं तैयार हूँ!"

"तो सुनो!" संध्या ने रिवाल्वर फेंकते हुए कहा—"तुम्हें मेरी जगह पर ऊषा को अपनाना होगा, और अभी इसी समय इससे शादी करनी होगी।"

"मुझे स्वीकार है।" रंजन ने गम्भीरता से उत्तर दिया—"परंतु......!"

"परंतु क्या?"

परंतु तुम कहाँ जाओगी?"

"रंजन! मेरे लिये दुःखी मत होना।" उसकी आँखें डबडबा आईं—"मुझे जहाँ जाना है, मैं आधा रास्ता तय कर चुकी हूँ।"

शांत वातावरण में निरंतर आह गूँजती रही, जैसे खून

तीव्र गति से निकल रहा हो, और नववधू कराह रही थी। संध्या पूछ बैठी—"क्यों, कहाँ चोट आई?"

उत्तर में हलकी-सी मुस्कान के साथ ऊषा बोल उठी—"बड़े अजीब तुम्हारे पतिदेव हैं! मैं तो बाल-बाल बची, वर्ना ....." वह फिर कराह उठी "अ...अ... आह!" संध्या का हृदय बाँसों उछल गया, और ऊषा भी मुस्किराती रही। संध्या ने झूठ-मूठ पट्टी बाँधना शुरू किया। रंजन डॉक्टर बुलाने चला गया।

---

[३५]

स्वामी श्वेतवसनपुरीजी के देहावसान की खबर बिजली की तरह देश-भर में फैल गई। और, संन्यासियों के मठों में सब लोग इधर-उधर बातें कर रहे थे—"संसार का कोई नियम नहीं है, जितने भारी-भारी आदमी होते हैं, उन्हें भगवान् बुला लेते हैं। बस, पापी ही नहीं मरते।"

श्वेतवसनपुरीजी उच्च कोटि के भक्त थे। वह तो किसी से मिलते तक न थे, प्रार्थना के समय ही कभी-कभी उनके दर्शन हो जाते थे।"

"स्वामी पीताम्बरदेवजी बहुत दुखी हैं, अब वह दो-चार दिन भोजन आदि त्याग देंगे। जब से सुन पाए हैं, तब से अपने मठ में जाकर रो रहे हैं।"

"उनके चेहरे से तेज कितना टपकता था!"

"अभी उम्र ही क्या थी, बस, बीस-चौबीस।"

"अँगरेजी, हिंदी, संस्कृत, सबके प्रकांड विद्वान्!"

"अभी सूर्य अस्त नहीं हुआ है, शायद इसी समय लोग श्मशान जायँ।"

और सचमुच श्मशान जाने की तैयारी हो रही थी। संध्या एक किनारे से चुपचाप सब देखती चली जा रही थी, आँसुओं से गाल तर थे। उसके रोने का समय आखिर कब आएगा?— इसी दिन के लिये तो उसने अपने आँसू रख छोड़े थे।

अब वह दीपक से न मिल सकेगी, लेकिन क्यों? धरती-वालों ने न मिलने दिया, तो वह आकाश······लेकिन कैसे?··· ऊषा और रंजन को साथ-साथ देखकर उसके आँसू और हँसी साथ-साथ फूट पड़े।

दीपक मैदान में लिटाया गया, और अर्थी बनकर तैयार हो गई। उसे स्नान कराया गया, और स्वच्छ वस्त्र पहनाकर अर्थी पर लिटा दिया गया। संध्या फफककर रो पड़ी—"हाय! क्या हुआ!"

"राम नाम सत्य है, सत्य बोलो मुक्त है!" की आवाज से अर्थी उठा दी गई।

संध्या तड़पकर गिर पड़ी, और जाने कब तक अचेत रही। उठी, तो अकेली थी। तीव्रता से उसके पैर श्मशान की ओर झपटते हुए बढ़ चले। उसमें न-जाने कितनी शक्ति आ गई थी। वह जैसे उड़ जाना चाहती थी।

जनाजा विंध्याचल की कंकरीली सड़कों से होता हुआ चला जा रहा था। रास्ते में जो देखता, सिर नवाकर दो क़दम साथ देता, और फिर चला जाता।

श्मशान तक पहुँचते-पहुँचते कई हजार की भीड़ लग गई।

समाधि की नींव बनने लगी। बीच में ही एक वृद्ध आकर खड़ा हो गया, साथ में संध्या भी थीं।

सबको एकत्रित देखकर वह हेमन्तगिरि के सामने जाकर खड़े हो गए, और बोले—"महाराज! यह शव यदि दाह कर दिया जाय, तो ठीक होगा। यह इस लड़की के पति हैं, और घर से रूठकर यहाँ चले आए थे।"

बच्ची की भी ऐसे ही इच्छा है ?"

रंजन और ऊषा भी पास में खड़े थे। उन्होंने भी इस प्रस्ताव पर जोर दिया, और यह बतलाए जाने पर कि यह शादी-शुदा है, और इनकी स्त्री यही चाहती है कि दाह-कर्म हो, तो स्वामीजी ने भी कोई आपत्ति न की, और श्मशान में एक ओर जमा की हुई लकड़ियाँ नदी के तट पर बनी हुई चौकोर भूमि पर रक्खी जाने लगीं।

भीड़ से थोड़ा हटकर पिता पुत्री से लिपट पड़ा—"बेटी! यह क्या हो गया मैंने यह क्या किया!"

संध्या भी पिता से लिपट पड़ी। दोनों पिता-पुत्री रोते रहे। सेठ सागरमल को अपनी पुत्री संध्या की हालत देखकर बस हाँफ हाँफकर रोना ही आता था, और वह रूमाल मुख में लगाए फफकते रहे।

चिता भभककर जल उठी, संध्या रोते-रोते बेहाल हो गई। चिता की लाल-लाल लपटें पवन के थपेड़ों से चारों ओर बारी-बारी से फैलने लगीं।

आज दीपक जल रहा था, संध्या देख रही थी। संध्या के पिता सेठ सागर अलग खड़े होकर रूमाल से मुख छिपाए रोते चले जा रहे थे। उनका रोना संध्या की हालत पर था।

अब थोड़ी देर में दीपक जलकर राख हो जायगा, और संध्या उसे कभी भी न मिल सकेगी। उसकी आँखें भी झपने लगीं, और क़दम लड़खड़ाने लगे।

वह थोड़ी दूर पर भूमि पर गिर पड़ी। संध्या के धूमिल प्रकाश में पश्चिम की ओर से धूल और पत्तों की टोली शोर मचाती हुई आने लगी, मेघ गरजे, और आँधी शांत थी। रिम-झिम शुरू हो गया। लोग वहाँ से हट गए, और पानी बढ़ते देखकर एक वट-वृक्ष के नीचे जाकर खड़े हो गए।

बौछारों से आकाश आच्छादित हो गया। घोर जल-वृष्टि के धुँधलेपन में कुछ दिखाई न पड़ा। स्रोतस्विनी अंतर्वेदना से रो पड़ी। पानी का रंग गँदला होने लगा। चंचला के घोर निनाद से पक्षी चौंककर डालों से उड़ने लगे। पर जाते कहाँ, थोड़ा-थोड़ा उड़कर फिर घोंसले में चले आए।

धीरे-धीरे पानी बंद हुआ, और लोग चिता के पास गए। बस, वहाँ भीगी हुई राख धरती में लिपटी पड़ी थी। जाह्नवी की तरंगों से जैसे पुकार आ रही हो—"आ S S ओ S S S S" नहा-धोकर जब लोग लौटे, तब थोड़ी दूर पर सफ़ेद-सा कपड़ा दिखाई पड़ा—भीगा हुआ।

समीप जाने पर रंजन ने ऊषा से पूछा—'संध्या कहाँ है ?" पर संध्या न थी, वहाँ तो पड़ा था संध्या का शव। माँझी की मुरली लहरा गई—तरंगों से आवाज आई—

घोर आँधी, निविड़ तम में बुझ गया अब दीप तेरा!

ले चुका पंछी बसेरा!

दीप की लौ बुझ चुकी है, हो गई है सांध्य-बेला,

श्रमिक जीवन के पथिक ने ले लिया है अब बसेरा!

और बुझ गई...!